स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

।। सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ।।

MAAH-116 (N)

दक्षिण भारत का राजनीतिक इतिहास

(750 ईस्वी से 1300 ईस्वी तक)

Political History of South India

(750A.D. to 1300 A.D.)

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर- 1800-120-111-333

कुलपति
उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

सन्देश

प्रयागराज की पवित्र भूमि पर भारत रत्न राजर्षि पुरूषोत्तम दास टण्डन के नाम पर वर्ष 1999 में स्थापित उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज उ0प्र0 का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय है। यह विश्वविद्यालय उ0प्र0 जैसे विशाल जनसंख्या वाले राज्य में उच्च शिक्षा के प्रत्येक आकांक्षी तक गुणात्मक तथा रोजगारपरक उच्च शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराने में निरन्तर अग्रसर एवं प्रयत्नशील है। तत्कालीन देश की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में एक वैकल्पिक व नवाचारी शिक्षा व्यवस्था के रूप में भारत में मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा प्रणाली का पदार्पण हुआ था, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों तथा तकनीकी का सार्थक प्रयोग करते हुये मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा आज की सर्वोत्तम पूरक शिक्षा व्यवस्था के रूप में स्थापित हो चुकी है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के सामने व्याप्त पाँच मुख्य चुनौतियों - (i) पहुँच (Access), (ii) समानता (Equity), (iii) गुणवत्ता (Quality), (iv) वहनीयता (Affordability) तथा (v) जवाबदेही (Accountability) को केन्द्र में रखकर घोषित देश की राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NEP-2020) के प्रस्तावों को क्रियान्वित करने में उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय कृत संकल्पित है। उ0प्र0 की माननीय राज्यपाल एवं कुलाधिपति श्रीमती आनंदीबेन पटेल जी की सद्इच्छाओं के अनुरूप उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, शैक्षिक दायित्वों के साथ-साथ सामाजिक दायित्वों के निर्वहन में भी लगातार नवप्रयास कर रहा है। चाहे वह गाँवों को गोद लेकर उनके समग्र विकास का प्रयास हो या ग्रामीण महिलाओं, ट्रान्सजेन्डर व सजायाफ्ता कैदियों को शुल्क में छूट प्रदान कर उनमें आत्मविश्वास जागृति व उच्च शिक्षा के प्रति अलख जगाने का प्रयास हो।

राष्ट्रीय विकास को बढ़ावा देने के लिए शिक्षा एक मूलभूत जरूरत है। ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्रों में हो रहे तीव्र परिवर्तनों व वैश्विक स्तर पर रोजगार की परिस्थितियों में आ रहे परिवर्तनों के कारण भारतीय युवाओं को विभिन्न क्षेत्रों में गुणवत्तापूर्ण शैक्षिक अवसर उपलब्ध कराने पर ही भारत का भविष्य निर्भर करेगा। इसीलिए विभिन्न क्षेत्रों में सफलता हेतु शिक्षा को सर्वसुलभ, समावेशी तथा गुणवत्तापरक बनाना समसामयिक अपरिहार्य आवश्यकता है। कोविड-19 संक्रमण काल ने परम्परागत शिक्षा को और भी सीमित कर दिया है जबकि कोविड-19 के संक्रमण काल में तथा कोविड-19 के बाद भी मुक्त एवं दूरस्थ शिक्षा व्यवस्था ही एकमात्र पूरक एवं प्रभावी शिक्षा व्यवस्था के रूप में सार्थक सिद्ध हो रही है। ऐसी स्थिति में विश्वविद्यालय का दायित्व और भी बढ़ जाता है। इस दायित्व को एक चुनौती स्वीकार करते हुए विश्वविद्यालय ने प्राचीन तथा सनातन भारतीय ज्ञान, परम्परा तथा सांस्कृतिक दर्शन व मूल्यों की समृद्ध विरासत के आलोक में सभी के लिए समावेशी व समान गुणवत्तायुक्त शिक्षा सुनिश्चित करने तथा जीवन पर्यन्त शिक्षा के अवसरों को बढ़ावा देने के लिए अपने शैक्षिक कार्यक्रमों में प्रमाणपत्र, डिप्लोमा, परास्नातक डिप्लोमा, स्नातक, परास्नातक तथा शोध उपाधि के समसामयिक शैक्षिक कार्यक्रमों की संख्या तथा गुणात्मकता में वृद्धि की है।

शैक्षिक कार्यक्रमों में संख्यात्मक वृद्धि, गुणात्मक वृद्धि तथा रोजगारपरक बनाने के साथ-साथ प्रत्येक उच्च शिक्षा आकांक्षी तक पहुँच सुनिश्चित करने के लिए अध्ययन केन्द्रों व क्षेत्रीय केन्द्रों के विस्तार के साथ-साथ प्रवेश, परीक्षा, प्रशासन तथा परामर्श (शिक्षण) में आनलाइन व्यवस्थाओं को सुनिश्चित किया गया है। विश्वविद्यालय कार्यप्रणाली में पारदर्शिता तथा जवाबदेही सुनिश्चियन की दृष्टि से तकनीकी के प्रयोग को बढ़ाया गया है। 'चुनौती मूल्यांकन' की व्यवस्था सुनिश्चित करने का कार्य किया गया है, तो शिक्षार्थी सहायता सेवाओं में भी वृद्धि की जा रही है। शिक्षार्थियों की समस्याओं के त्वरित निस्तारण हेतु शिकायत निवारण प्रकोष्ठ को सुदृढ़ करने के साथ-साथ पुरातन छात्र परिषद को गतिशील किया गया है।

शोध और नवाचार के क्षेत्र में अग्रसर होते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) नई दिल्ली तथा माननीय राज्यपाल एवं कुलाधिपति, उ0प्र0 की अनुमति से विश्वविद्यालय में शोध कार्यक्रम पुनः प्रारम्भ किया गया है तथा वर्ष पर्यन्त समसामयिक विषयों पर व्याख्यान, सेमिनार, बेबिनार तथा आनलाइन संगोष्ठियों आदि की श्रृंखला भी प्रारम्भ की गयी है। विभिन्न क्षेत्रों में रिसर्च प्रोजेक्ट सम्पादन पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है। पुस्तकालय को अत्याधुनिक तथा सुदृढ़ बनाने हेतु कदम उठाये गये हैं। शिक्षकों व कर्मचारियों के स्वास्थ्य तथा कल्याण की योजनायें क्रियान्वित की गयी है। वर्तमान की विषम परिस्थितियों के दृष्टिगत विश्वविद्यालय ने मुख्यमंत्री तथा प्रधानमंत्री राहत कोष में अंशदान देने का भी प्रयास किया है।

भौतिक अधिसंरचना की दृष्टि से विश्वविद्यालय निजी स्रोतों से ही निरन्तर आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ा है। विश्वविद्यालय के शिक्षकों, परामर्शदाताओं, क्षेत्रीय समन्वयकगण, अध्ययन केन्द्र समन्वयकगण तथा कर्मचारियों की एकता व कर्मठता ही वह ऊर्जा पिण्ड है जिसके बल पर विश्वविद्यालय जीवंत व प्रकाशवान है। मुझे विश्वास है कि इसी ऊर्जा पिण्ड की सहायता से यह विश्वविद्यालय देश, प्रदेश तथा समाज को अपनी सेवाओं व योगदान प्रदान कर और अधिक समृद्ध, सुदृढ़ और गौरवशाली बनाने में अपनी भूमिका अदा कर सकेगा। मैं समस्त विश्वविद्यालय परिवार के प्रति आदर व आभार व्यक्त करती हूँ।

प्रो. सीमा सिंह
कुलपति

U.P.Rajarshi Tandon Open University, Prayagraj

MAAH-116 (N)

दक्षिण भारत का राजनीतिक इतिहास

(750 ईस्वी से 1300 ईस्वी तक)

Political History of South India

(750A.D. to 1300 A.D.)

पाठ्यक्रम

इकाई 1	दक्षिण भारतीय इतिहास के स्रोत
इकाई 2	वाकाटक वंश : स्रोत, प्रवरसेन प्रथम, रूद्रसेन द्वितीय एवं प्रभावती गुप्ता
इकाई 3	पल्लव वंश–प्रारम्भिक इतिहास, सिंह विष्णु, महेन्द्रवर्मन् प्रथम, नरसिंहवर्मन् प्रथम, परमेश्वरवर्मन् द्वितीय
इकाई 4	वादामी के चालुक्य : स्रोत, प्रारम्भिक इतिहास–पुलकेशिन् द्वितीय एवं विक्रमादित्य द्वितीय
इकाई 5	कल्याणी के चालुक्य–स्रोत–तैलप द्वितीय,सोमेश्वर प्रथम, विक्रमादित्य षष्ठ
इकाई 6	वेंगी के चालुक्य,विष्णुवर्धन् चतुर्थ एवं विक्रमादित्य तृतीय
इकाई 7	राष्ट्रकूट वंश–स्रोत–ध्रुव, गोविन्द तृतीय, अमोघवर्ष प्रथम, इन्द्र तृतीय
इकाई 8	देवगिरि के यादव–भिल्लम एवं सिम्हाना
इकाई 9	द्वारसमुद्र के होयसल राजवंश
इकाई 10	पश्चिमी गंग एवं बनवासी के कदम्ब वंश
इकाई 11	वारंगल का काकतीय राजवंश–गजपति रूदाम्बा एवं प्रतापरूद्र
इकाई 12	चोल वंश–प्रारम्भिक इतिहास–परान्तक प्रथम, राजराज प्रथम, राजेन्द्र चोल, कुलोत्तुंग प्रथम
इकाई 13	चोल कालीन शासन–व्यवस्था, कला एवं स्थापत्य
इकाई 14	दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया सम्बन्ध

MAAH-116 N

दक्षिण भारत का राजनीतिक इतिहास (750 ईस्वी से 1300 ईस्वी तक)
Political History of South India (750A.D. to 1300 A.D.)

परामर्श समिति

प्रो.सीमा सिंह,	कुलपति, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार	कुलसचिव, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठयक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो.सन्तोषा कुमार	निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.जे.एन.पाल	पूर्व आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.हर्ष कुमार	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.राजकुमार गुप्ता	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग प्रो.राजेन्द्र सिंह (रज्जू भय्या) विश्वविद्यलय,प्रयागराज
डॉ.सुनील कुमार	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास,समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

लेखक

डॉ. सौरभ त्रिपाठी,	असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग श्रीमती सुषमा स्वराज राजकीय महाविद्यालय वल्लबगढ़, हरियाणा

सम्पादक

प्रो.ईश्वर शरण विश्वकर्मा,	पूर्व आचार्य, प्राचीन इतिहास पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,गोरखपुर

पाठयक्रम समन्वयक

डॉ.सुनील कुमार,	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास समाज विज्ञान विद्याशाखा उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2024

ISBN : 978-81-19530-98-4 **April : 2024 (मुद्रित)**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक : कुलसचिव, कर्नल विनय कुमार सिंह, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2024

मुद्रकः– चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज

इकाई– 1 दक्षिण भारतीय इतिहास के स्रोत

इकाई की रुपरेखा

1.0 प्रस्तावना

1.1. उद्देश्य

1.2 ऐतिहासिक स्रोत

1.2.1 साहित्यिक स्रोत

1.2.1.1 वैदिक, जैन एवं बौद्ध साहित्य

1.2.1.2 संगम साहित्य

1.2.1.3 लौकिक साहित्य

1.2.1.4 विदेशी यात्रियों का विवरण

1.2.2 पुरातात्त्विक स्रोत

1.2.2.1 अभिलेख

1.2.2.2 सिक्के

1.2.2.3 विविध पुरातात्त्विक अवशेष

1.3 सारांश

1.4 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.5 शब्दावली

1.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.1 प्रस्तावना

विगत दशको में दक्षिण भारत के इतिहास के अध्ययन के सन्दर्भ में एक अवधारणा बनी रही कि, दक्षिण भारत के इतिहास के लिये हमें उतनी अधिक सामग्री नहीं मिलती जितनी उत्तर भारत के सम्बन्ध में प्राप्त होती है। यहाँ तक कि इतिहासकार विन्सेंट स्मिथ ने तो यह कह दिया कि प्राचीन भारत के अब तक के इतिहासकारों ने इस प्रकार इतिहास लिखा है जैसे दक्षिण का अस्तित्व ही न हो। यद्यपि इतिहासकार वी.ए. स्मिथ का यह कथन सही नहीं है कि, उत्तर भारतीय इतिहास की तरह दक्षिण भारतीय इतिहास को समझने के लिए

भी प्राचीन भारतीय साहित्यिक ग्रन्थ, पुरातात्त्विक साक्ष्य एवं विदेशी पर्यटकों द्वारा प्रदत्त विवरण विशेष उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इस इकाई में सभी महत्त्वपूर्ण स्रोतों का एक विहंगमावलोकन प्रस्तुत किया जा रहा है, तथा उनसे जुड़ी सामान्य विशेषताओं को भी रेखांकित किया जा रहा है। महत्त्वपूर्ण पहलुओं को समझने तथा अतीत को समझने के लिए ये अध्याय अनुकरणीय है।

1.1 उद्देश्य

इस पाठ्यक्रम की यह पहली इकाई है। इस इकाई के अंतर्गत दक्षिण भारत के इतिहास को समझने के लिए सबसे प्राथमिक रूप से इतिहास निर्माण में स्रोतों की भूमिका की विस्तृत चर्चा की गयी है। किसी भी काल अथवा स्थान विशेष के इतिहास लेखन में स्रोतों की भूमिका किसी भवन की नीव रखने जैसे है, अर्थात् जितनी अच्छी समझ ऐतिहासिक स्रोतों की होगी उतना ही इतिहास को समझना सरल एवं ग्राह्य होगा। इस इकाई के अंतर्गत ऐतिहासिक स्रोत, उनके विभिन्न प्रकारों एवं उनकी दक्षिण भारत इतिहास निर्माण में भूमिका एवं उपादेयता का अध्यन किया जायेगा ।

1.2 स्रोत

ऐतिहासिक स्रोत एक मूल स्रोत है जिसमें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी होती है। ये स्रोत कुछ ऐसे हैं जो हमें सबसे बुनियादी स्तर पर इतिहास के बारे में सूचित करते हैं, और इतिहास का अध्ययन करने के लिए साधन के रूप में उपयोग किए जाते हैं। ऐतिहासिक स्रोतों में सिक्के, कलाकृतियाँ, स्मारक, साहित्यिक स्रोत, कलाकृतियाँ, पत्थर के शिलालेख, चित्र और मौखिक इतिहास शामिल हो सकते हैं। स्रोतों की प्रकृति के आधार पर उन्हें दो मुख्य भागों में बाँटा गया है, जिनमे साहित्यिक स्रोत एवं पुरातात्त्विक स्रोत शामिल हैं। पुरातात्त्विक स्रोतों के अन्तर्गत सभी प्रकार के भौतिक अवशेष आते हैं। किन्तु यहाँ पर यह समझना आवश्यक है की इस प्रकार का कोई भी विभाजन अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकता।

1.2.1 साहित्यिक स्रोत

लघु अथवा वृहद्, लिखित अथवा मौखिक सभी प्रकार की रचनाओ को साहित्यिक स्रोतों में रखा जा सकता हैं। इन स्रोतों की प्रकृति के आधार पर इनका विभाजन किया जाता है जो निम्न प्रकार है ।

1.2.1.1 वैदिक एवं बौद्ध साहित्य

1.2.1.2 संगम साहित्य

1.2.1.3 लौकिक साहित्य

1.2.1.4 विदेशी यात्रियों का विवरण

1.2.1.1 वैदिक साहित्य एवं बौद्ध साहित्य

ऋग्वेद में एकाध छिट–पुट उल्लेखों को छोड़ दें तो दक्षिण के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिलती। इसके एक मन्त्र में 'दक्षिणापदा' (दक्षिण की दिशा में पैर) का प्रयोग किया गया है। किन्तु, इस शब्द से वास्तविक तात्पर्य क्या है स्पष्ट नहीं है। इस ग्रन्थ में दक्षिण की किसी जाति, नदी, पर्वत आदि का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। अतः यह मानना उचित लगता है कि पूर्व वैदिक आर्य दक्षिण भारत से पूरी तरह से परचित नहीं थे। वैदिक ग्रन्थ ऐतरेय आरण्यक में एक स्थान पर 'चेरपादाः' का उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ के निवासियों को आर्य–संस्कृति एवं परम्पराओं को न मानने वाला बताया गया है। इसी ब्राह्मण ग्रन्थ में दक्षिण भारत में स्थित विदर्भ राज्य का वर्णन होने के साथ–साथ वहाँ के शासक 'भीम' का सन्दर्भ आता है। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर 'रेवोत्तरस पाटवचाक्रस्यपित का उलेख मिलता है, जिसे श्रृंजयो ने अपने क्षेत्र से भगा दिया था। कुछ विद्वान् रेवोत्तरस को रेवा (नर्मदा) नदी के आस–पास स्थित भू–क्षेत्रों से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं, परन्तु स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इसे अंतिम रूप से स्वीकार नही किया है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में विदर्भ राज्य का उल्लेख मिलता है साथ ही यहाँ के पारस्परिक शिक्षकों के लिए 'कौण्डित्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। कौषीतकि उपनिषद् में एक स्थान पर दक्षिण–पर्वत का उल्लेख मिलता है, जिसके आधार पर कुछ विद्वानों ने इसका समीकरण दक्षिण भारत में फैले विन्ध्य पर्वत श्रेणियों से किया है। महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण में मलय, महेन्द्र पर्वत श्रेणियों, गोदावरी आदि नदियों, आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य, केरल तथा महिषक प्रभृति जनपदों और जगलों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में उपलब्ध 'अगस्त्याख्यान' द्वारा दक्षिण भारत में आर्य–संस्कृति के क्रमिक प्रसरण का विचार प्राप्त होता है। महाभारत में दक्षिण भारतीय बहुमूल्य रत्नों, वस्तुओं, कृषि– उत्पादों तथा पशु सम्पदाओं का भी विवरण प्राप्त होता है। रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में पाण्ड्य राज्य तक के दक्षिण भारत का विवरण प्राप्त होता है। दण्डकारण्य अर्थात् दण्डकवन का भी विवरण मिलता है, जिसे एफ.ई. पार्जिटर महोदय ने, बुन्देलखण्ड से लेकर कृष्णा नदी तक फैले हुए वन प्रदेश का सामान्य नाम के रूप में माना है। नदियों में हमें कृष्णा, गोदावरी, नर्मदा,

कावेरी, ताम्रपार्णि तथा पर्वतों में महेन्द्र तथा जनपदों में विदर्भ, कलिंग, आन्ध, चोल, पाण्ड्य, केरल आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है। बाद के काल में संकलित किये गए पुराणों में भी वैदिक ऋषि अगस्त्य द्वारा चलाए गए दक्षिण भारतीय प्रदेशों में किये गए अभियान का आख्यान महाभारत में उल्लेखित 'अगस्त्याख्यान' का ही विवरण माना जा सकता है। पुराणों में अनेक स्थलों पर दक्षिण भारतीय नदियों, पर्वतों, जनों, वनों, तीर्थ–स्थलों तथा राज्यों आदि का विशद् उल्लेख मिलता है।

महान् संस्कृत–वैय्याकरणिक पाणिनि के अष्टध्यायी में उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि वे संभवतः दक्षिण भारत के कुछ राज्यों से परिचित थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ उक्त ग्रंथ में अश्मक जनपद का उल्लेख किया है। पाणिनि ने एक स्थल पर 'दक्षिणात्य' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य संभवतः दक्षिणापथ से है। बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात एवं विनयपिटक में 'दक्षिणापथ' का विवरण प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'अश्मक' राज्य को बौद्ध ग्रन्थ 'अंगुत्तरनिकाय' में षोडश महाजनपद राज्यों में परिगणित किया गया है। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के लगभग रचित बौधायन धर्मसूत्र में दक्षिण भारतीय समाज में प्रचलित कुछ रीति–रिवाजों का भी उल्लेख किया है, जैसे मामा और बुआ की कन्या के बीच वैवाहिक सम्बन्ध का संदर्भ प्राप्त होता है। कात्यायन, जिनका काल ई० पू० चौथी शताब्दी माना जाता है, जो अष्टाध्यायी के टीकाकार थे, ने नासिक के साथ–साथ सुदूर दक्षिण में स्थित चोल, पाण्ड्य, केरल आदि राज्यों का उल्लेख किया है ।

1.2.1.2 संगम साहित्य

सुदूर दक्षिण भारत के प्रारम्भिक जन जीवन, धार्मिक, सामाजिक परम्पराओं,राजनैतिक और आर्थिक जीवन पर प्रकाश विस्तार से संगम साहित्य से पड़ता है। 'संगम' का तात्पर्य दक्षिण भारत में पाण्ड्य नृपतियों द्वारा गठित विद्वत्–गोष्ठी अथवा लेखक संघ के रूप माना जा सकता है, जिसमें दक्षिण भारतीय प्राचीन परम्पराओं को काव्य–रूप में संकलित करके उस काल के कवियों एवं आचार्यों ने लिपिबद्ध कर साहित्यिक स्वरूप प्रदान किया था। यद्यपि इसकी एक बड़ी समस्या यह है की सही कालक्रम आदि की यथेष्ट सूचनाओं के अभाव के कारण संगम–साहित्य से तत्कालीन राज्य–शासन, शासनतंत्र के गठन तथा राजनीतिक जीवन, समाजार्थिक एवं धार्मिक दशा स्पष्ट एवं क्रमिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पता है। संगम–कवियों ने अपने समय की सामाजिक एवं अन्य गतिविधियों पर व्यापक सामग्री प्रस्तुत की होगी, परन्तु आज हमें उस विशाल

साहित्यिक भण्डार का अल्पांश ही उपलब्ध हो सका है। पाण्ड्य नृपतियों के संरक्षण में आयोजित किए गए उपर्युक्त कवियों की कुल तीन संगमों का पता चलता है। संगमकालीन तमिल–कवियों के उपर्युक्त तीनों संगम प्रायः बहुत लंबे अन्तराल के साथ दीर्घकाल तक संचालित होते रहे। आठवीं शताब्दी ई० के सुप्रसिद्ध रचनाकार इरैयनार अगप्पोरूल द्वारा रचित भाष्य इन संगमों की संपूर्ण कालावधि 9990 वर्ष बताता है। तीनों संगमों में संकलित कुल रचनाओं की संख्या 2289 है, जिन्हें मोटे रूप से निम्नलिखित ग्रन्थों में संकलित किया गया है (1) नट्रिणै (2) कुरंदोगै (3) ऐंगुरुनुरु, (4) पदिट्रपत्तु, (5) पारिपाडल, (6) कलित्तोगै, (7) अहनानुरु, (8) पुरुनानरु। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री ने इन ग्रन्थों के अतिरिक्त एक नवें संग्रह–ग्रन्थ की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है, जिसका नाम है पत्तुप्पाटु। नीलकण्ठ शास्त्री का मत है कि संगमयुगीन संग्रह–ग्रन्थों में दिए गए पाद–टिप्पणियों में उल्लखित कवियों राजाओं अथवा संरक्षक राजाओ के नामों की समसामयिकता के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक रचनाएँ अधिक–से–अधिक चार–पाँच पीढ़ियों की रचना रही होंगी। अधिकांश विद्वानों ने संगमकालीन साहित्य की रचना–तिथि 100 ई० से 300 ई० के मध्य प्रस्तावित किया है।इसी काल–खण्ड में 'तोलकप्पियर' ने तमिल व्याकरण पर 'तोलकाप्पियम' नामक की रचना की थी। संगमयुगीन ग्रंथो से यह स्पष्ट होता है की तमिल भाषा पर्याप्त प्रौढ़ एवं समुन्नत है, जिसमें समय के साथ संस्कृत–मूल के अनेक शब्दों को समावेसित किया गया है। ये कविताएँ साहित्यिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से बहुत ही शक्तिशाली होने के साथ–साथ अपने समय की सामाजिक– जीवन धारा को पूरी तरह से व्याख्यित करती हैं ।

1.2.1.3 लौकिक साहित्य

दक्षिण भारत के ऐतिहासिक अनुशीलन में संगम साहित्य के साथ– साथ, तमिल एवं संस्कृत भाषाओं में रचित कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी विशेष उपयोगी हैं। जैन–ग्रन्थ श्लोक विभाग से पल्लव नरेश सिंहवर्मन् के शासनकाल की जानकारी प्राप्त होती हैं। सिंहली बौद्ध काव्य 'महावंश' पल्लव इतिहास के अनेक पक्षों पर प्रकाश डालता है। महाकवि दण्डिन् विरचित 'अवन्ति सुन्दरी–कथासागर' से पल्लव शासक सिंहविष्णु तथा अन्य राजाओं के विषय में जानकारी प्राप्त होती हैं। विद्वान् पल्लव नृपति महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने स्वयं 'मत्तविलासप्रहसन' ग्रन्थ की रचना की जिसमे उसने अपने युग की सामाजिक, धार्मिक एवं अन्य सांस्कृतिक स्थितियों के सन्दर्भ में विस्तार से वर्णन किया है। पल्लव शासनकाल में रचित 'नन्दक्कलम्बकम्' से नन्दिवर्मन् तृतीय तथा उसकी राजधानी कांची के वैभव, समृद्धि एवं ऐ''वर्य पर प्रकाश पड़ता है। महाकवि

बिल्हण द्वारा रचित 'विक्रमाङ्कदेवचरित' से पश्चिमी चालुक्य राजवंश के इतिहास की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। चोल राजवंश के ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में पेरियपुराण्म्, कलिंगत्तुपुराणि, 'चोलवंशचरितम्', 'वीर शोलियम्', दिव्यसूरचरित, कोंगुदेश राजाक्कलचरितम् तथा 'गुरु परापरै' आदि ग्रन्थ विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। शक्किलार कृत 'पेरियपुराण', जिसकी रचना कुलोत्तुंग के समय में की गयी, से उस काल की धार्मिक दशा का ज्ञान प्राप्त होता है। बुद्धमित्र के 'वीरशोलिय' से वीर राजेन्द्र के समय की ऐतिहासिक घटनाओं का ज्ञान होता है। बौद्ध ग्रन्थ महावंश से परान्तक की पाण्ड्य विजय तथा राजेन्द्र प्रथम की सिंहल विजय का वृत्तान्त प्राप्त होता है।

कन्नड़ भाषा में लिखे गये ग्रन्थों में पम्प रचित 'विक्रमार्जुनीय विजय' अथवा भारत तथा रन्न द्वारा लिखे गये गदा युद्ध से राष्ट्रकूट तथा चालुक्य इतिहास से सम्बंधित जानकारी प्राप्त होती है, यद्यपि ये ग्रन्थ महाकाव्य के रूप में है। जिनसे चालुक्यों एवं राष्ट्रकूटों की ऐतिहासिक गतिविधियों पर प्रकाश पड़ता है। पम्म कन्नड़ साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि था, उसने इन्द्र तृतीय के उत्तरी अभियान के सम्बन्ध में विवरण दिया है। इस युद्ध में उसका आश्रयदाता अरिकेसरिन् सम्मिलित हुआ था। पम्प ने अपने आश्रयदाता के पराक्रम की तुलना अर्जुन से की है ।

सोमेश्वर तृतीय का 'मानसोल्लास' तथा जिनसेन द्वारा लिखित आदि पुराण से राष्ट्रकूट इतिहास पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। जैनाचार्य गुणभद्र–प्रणीत 'उत्तर पुराण' से कतिपय राष्ट्रकूट नरेशों के इतिवृत्त की सूचना मिलती है। हेमाद्रि के 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' से देवगिरि के यादव राजवंश के इतिहास से सम्बंधित जानकारी प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार मेरुतुंग रचित 'प्रबन्धविन्तामणि', जिनप्रभसूरिकृत 'नासिक कल्प' से भी दक्षिण भारतीय राज्यों से सम्बंधित ऐतिहासिक सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

1.2.1.4 विदेशी यात्रियों का विवरण

दक्षिण भारतीय इतिहास के लेखन में साहित्यिक ग्रंथों तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों से कम महत्व विदेशी विवरणों का नहीं माना जा सकता है। चतुर्थ–तीसरी शताब्दी ई० पू० के शासक चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में सीरिया यूनानी–लेखक मेगस्थनीज ने 'इण्डिका' में सुदूर दक्षिण भारत के पाण्ड्य राज्य का उल्लेख किया है। उसके अनुसार उस समय वहाँ हेराक्लीज की पुत्री 'पाण्ड्या' एक शासिका के रूप में लोकप्रिय थी। इसी प्रकार स्ट्रैबो, प्लिनी तथा टालमी के विवरणों से दक्षिण भारत एवं भूमध्यसागर के तटीय

प्रदेशों का रोम के साथ विकसित व्यापारिक एवं वाणिज्यिक सम्बन्धों का पता चलता है। यूनानी लेखकों के अतिरिक्त चीनी लेखकों ने भी दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पर प्रकाश डाला है। चौथी शताब्दी ई० में भारतवर्ष की यात्रा पर आए चीनी यात्री फाह्यान ने तु"सन अर्थात् दक्षिणापथ का उल्लेख किया है। सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चीनी विद्वान् ह्वेनसांग ने वातापी, काँची तथा महाबलिपुरम् में कई महीने तक निवास किया साथ ही तत्कालीन दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पर विस्तृत प्रकाश डाला है, इसने उत्तरापथे"वर हर्ष, दक्षिणापथे"वर पुलकेशिन् द्वितीय तथा कांची–नरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम जैसे महान् नृपतियों के शासन काल की अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान की हैं। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत आने वाले चीनीयात्री ईत्सिंग ने, यद्यपि उसने दक्षिण भारत की यात्रा तो नहीं की थी तथापि साठ बौद्ध भिक्षुओं के जीवन–चरित लिखते समय उसने तत्कालीन दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृ ति की सूचनाएँ प्रदान की है। चीनी लेखक मात्वालिन ने चालुक्य नरेश विनयादित्य तथा विजयादित्य एवं चीन देश के शासक के मध्य स्थापित वाणिज्य एवं सांस्कृतिक सम्पर्क का उल्लेख किया है। पल्लव शासक नरसिंहवर्मन् द्वितीय के शासन काल में तत्कालीन चीनी नरेश ने एक दूत–मंडल पल्लव राजधानी काँची में भेजा था। 13 वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में चीनी–लेखक चाऊ–जू–कुआ ने चू–फान–चीन नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें दक्षिण भारत एवं चीन के बीच के पारस्परिक सम्बन्धों एवं विशेष कर उस समय की न्याय व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

इसी प्रकार मध्यकालीन दक्षिण भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के सम्बन्ध में मुस्लिम–इतिहासकारों जिसमे इब्नखुर्दादाव, तबरी, इब्नबतूता, जियाउद्दीन बरनी, इसामी, अमीर खुसरो, फरिस्ता की लेखनी से जानकारी प्राप्त होती है। यद्यपि इनकी सबसे बड़ी सीमा यह है की तत्युगीन राजनीतिक सूचनाओं को देने में वे प्रायः एकांगी तथा अतिरंजित हो जाते है, जिसके कारण वे अपने आश्रयदाता की सफलताओं को बढ़ा–चढ़ाकर लिखने के अतिरिक्त, उनकी ऐतिहासिक दृष्टि वास्तविकता से बहुत परे चली जाती है। यूरोपवासी मार्कोपोलो की सुदूर दक्षिण भारतीय पाण्ड्य राज्य एवं वहां के लोगों के रहन–सहन, रीति–रिवाजों, धरम आदि के विषय में प्रदत्त सूचना विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

बोध प्रश्न 1

1. दक्षिण भारतीय इतिहास लेखन में साहित्यिक स्रोतों की भूमिका की व्याख्या करें ।.....

.....

.....

1.2.2 पुरातात्त्विक स्रोत

पुरातात्त्विक स्रोत में मूल रूप से ऐतिहासिक इमारतें, सिक्के, शिलालेख और अन्य अवशेष जैसे भौतिक साक्ष्य आते हैं जो किसी विशेष काल से संबंधित महत्वपूर्ण और विस्तृत जानकारी प्रदान देते हैं। इनकी प्रकृति के आधार पर इनका विभाजन निम्न प्रकार से किया जा सकता है ।

1.2.2.1 अभिलेख

1.2.2.2 मुद्रा / सिक्के

1.2.2.3 विविध पुरातात्त्विक अवशेष

1.2.2.1 अभिलेख

पुरातत्त्व वर्ग की ऐतिहासिक सामग्री में अभिलेखों का असाधारण महत्व है। कुछ राजवंशों के इतिहास की जानकारी के लिए केवल अभिलेखीय प्रमाण ही पर्याप्त हैं।दक्षिण के अब तक उपलब्ध सबसे प्रारम्भिक अभिलेख अशोककालीन हैं जो वर्तमान आन्ध्र प्रदेश में एर्रगुडि, मास्की, राजुल मण्डगिरि तथा कर्नाटक में ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर, रामे''वरम्, गोविष्ट, पालकिगुण्डु आदि महत्वपूर्ण स्थानों से प्राप्त होते हैं। इनसे हम अशोक की दक्षिणी सीमा के विषय में एवं सुदूर दक्षिण में चोल, चेर तथा पाण्ड्य राज्यों अस्तित्व की सूचना मिलती हैं किन्तु, इनकी सीमा यह है कि इनसे दक्षिण भारत के इतिहास से सम्बन्धित कोई भी महत्वपूर्ण बात इनसे सूचित नहीं होती है। मौर्य साम्राज्य के पश्चात, सातवाहनों के समय से दक्षिण भारत से अभिलेख प्रचुरता से मिलने लगते हैं। यहाँ तक कि सातवाहन वंश का इतिहास वस्तुतः उनके अभिलेखों पर ही ज्यादा आश्रित है, सातवाहन लेखों में नासिक से प्राप्त गुहालेखों से इस वंश के सर्वाधिक शक्तिशाली शासक गौतमीपुत्र शातकर्णि की उपलब्धियों एवं उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती हैं। दक्षिणापथ एवं सुदूर दक्षिण में शासन करने वाले प्रायः सभी राजवंशों के अभिलेख अब तक प्राप्त हो चुके हैं।

वाकाटक वंश के लेखों में पूना तथा रिद्धपुर ताम्रपत्राभिलेख तथा अजन्ता से प्राप्त गुहाभिलेख का विशेष महत्व है। इसी प्रकार पश्चिमी गंगवंश के लिए माधव का पेनकोण्डा अभिलेख, वातापी के चालुक्यों के लिए ऐहोल अभिलेख,

राष्ट्रकूट राजवंश के लिए अमोघवर्ष का संजन दानपत्र, गोविन्द तृतीय का राधनपुर दानपत्र, धारावर्ष ध्रुवराज का मोरराज संग्रहालय दानपत्र इन वंशो के इतिहास लेखन के प्रमाणिक अभिलेखीय आधार स्रोत हैं। पश्चिमी अर्थात् कल्याणी के चालुक्य तथा कल्चुरि राजवंश का तैल द्वितीय का सोगल, सोनदत्ती और नीलगुण्ड अभिलेख, सत्याश्रय का होत्तूर, खोर–पाटन, अभिलेख, विक्रमादित्य का कौथेम दानपत्र, जयसिंह द्वितीय का मिरज दानपत्र सोमे''वर प्रथम के सुदी तथा अन्य लेख इतिहास लेखन के प्रमुख आधार है। पल्लव राज्यओं के लेख प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भाषाओं में मिलते हैं इनके प्रारम्भिक लेखों में मैडवोलु तथा हीरहडगल्ली के लेख विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। बाद के लेखों में उदयेन्दिरम् दानपत्र, कशाक्कुडि दानपत्र, वाहुर, पल्लवरम्, पन्नमलाई, वैकुण्ठपेरुमाल आदि लेख महत्वपूर्ण है जिनसे इस वंश के शासकों की उपलब्धियों की जानकारी मिलती है। विजयालय पूर्व के चोल इतिहास के लिये अभिलेखीय प्रमाण बहुत सहायक नहीं हैं, किन्तु विजयालय के बाद का इतिहास अभिलेखों से भरा पड़ा है। चोल शासकों ने संस्कृत, तमिल, तेलुगू, कन्नड़ आदि सभी भाषाओं में लेख उत्कीर्ण कराये। आदित्य चोल के इतिहास के लिए तिरुकल्लकुरम्, तक्कोलम्, और तिलोत्तमम् के अभिलेख, परान्तक प्रथम का तोण्डैमान, तिरुवोर्रैयू, किलयुत्तरगरू, उत्तरमल्लूर, सुन्दर चोल से सम्बद्ध अनविल दानपत्र, इसके अतिरिक्त राजराज प्रथम के तंजोर अभिलेख, मेलपाड अभिलेख, वृहद्लाइडेन दानपत्र और राजराज प्रथम के तिरुवालङ्गाडु दानपत्र तथा वीर राजेन्द्र का कन्याकुमारी अभिलेख उल्लेखनीय हैं। राजेन्द्र तृतीय का तिरुवेन्दिपुरम् का लेख चोलों के उत्कर्ष अपितु उनके पराभव का भी तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत करता है। साथ ही इसमें होयसल राजाओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की गयी है, जिनकी सहायता से चोलों का पुनरुद्धार हुआ। ग्राम शासन के अभिलेखीय प्रमाण के रूप में उत्तरमेरूर लेख, चोल कालीन सुविकासित ग्राम शासन की जानकारी प्रदान करता है। पाण्ड्य वंश के इतिहास के लिये वेलवीकुडी तथा सिन्नामन्नूर के लेख, त्रिचनापल्ली और अम्बासमुद्रम् के अभिलेख, जटिलवर्मन् का मद्रास संग्रहालय का लेख और मदुरा के पास से प्राप्त अन्नमलार्य अभिलेख पाण्ड्य शासकों के विषय में जानकारी प्रदान करते है।

1.2.2.2 मुद्रा/सिक्के

दक्षिण भारत के अध्ययन को आधार सामग्री प्रस्तुत करने में मुद्राओं का भी बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान है। यद्यपि इलियट जैसे विद्वानों की मान्यता है कि उनके अध्ययन से उतना महत्त्वपूर्ण लाभ नहीं प्राप्त होता है जितना कि

उत्तर भारत के सिक्कों से काल विशेष के इतिहास का ज्ञान होता है। दक्षिण भारत के मुद्राओं पर अंकित प्रतीक और उपाधि सूचक लेख राजवंशों की ऐतिहासिकता के साथ–साथ, उनकी राजनीतिक गतिविधि पर भी विशेष रूप से प्रकाश डालते हैं। इन पर अंकित अभिलेख यद्यपि की छोटे है फिर भी इनसे उन वंशो के आनुवंशिक इतिहास तथा उनकी भौगोलिक अवस्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। यद्यपि इनकी सीमा यह है कि अधिकांश मुद्रा अभिलेख तिथिविहीन हैं। सातवाहन मुद्राओं के प्राप्ति–स्थान के अध्ययन से उनके राज्य–सीमा का अंदाजा लगाया जा सकता है, ये सिक्के मालवा, नासिक, कोल्हापुर, करवार (उत्तरी कन्नड) चित्तलदुर्ग (मैसूर) तथा आन्ध्र प्रदेश से मिले हैं। इनमें से कारोमण्डल तट से नौका प्रकार के सातवाह सिक्के सातवाहनों को एक समुद्री शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। महाराष्ट्र के नासिक जिले के जोगल्थाम्बी से प्राप्त सिक्कों के पुनारंकन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने शक–क्षत्रप नहपान को पराजित किया था। वादामी के चालुक्यों के सिक्कों पर 'वराह' का प्रतीक मिलता है। कल्याणी के चालुक्य शासकों–जयसिंह, जगदेकमल्ल, सोमे''वर प्रथम तथा तैलप तृतीय के स्वर्ण सिक्कों द्वारा आर्थिक समृद्धि की सूचना मिलती है। पल्लवों के सिक्कों में भी 'मस्तूलयुक्त जहाज' बने हुए हैं। इससे पल्लवों की समुद्री शक्ति और समुद्री व्यापार में असाधारण सफलता की पुष्टि होती है। तेरहवीं शती में चोल पाण्ड्य के पाण्ड्य जनपद में सम्मिलित शासन की सूचना उन ताम्र सिक्कों से मिलती है, जिसके सम्मुख भाग में स्थानक मुद्रा में राजा अंकित है और पा''र्वभाग में एक आसीन राजा तथा अवांग–मुख चार मत्स्य बने हैं। ग्यारहवीं शती के कुछ चोल सिक्कों पर वृषभ का अंकन मिलता है। जो कि चोल राजनीति में मुख्यतया कुलोतुङ्ग के समय में होयसल प्रभाव का परिणाम प्रतीत होता है।

चोल राजाओं ने सोने, चाँदी तथा ताँबे के सिक्के जारी करवाये थे जिससे उनकी प्रभुसत्ता, गौरव तथा आर्थिक प्रगति का प्रमाण मिलता हैं। सुदूर दक्षिण के कई स्थानों से रोमन सम्राटों जैसे आगस्टस, नीरों, टाइवेरियस आदि के स्वर्ण सिक्के भी मिलते हैं। इन मुद्राओं से भारत की राजनीतिक स्थिति पर तो प्रत्यक्ष प्रकाश तो नहीं पड़ता किन्तु भारत और रोम के बीच के प्रथम से तृतीय शती ई० जो व्यापारिक सम्बन्ध थे उसके प्रमाण के ये महत्वपूर्ण साधन है।

1.2.2.3 विविध पुरातात्त्विक अवशेष

अभिलेखों एवं सिक्कों की भांति ही उत्खनित सामग्री, धातु तथा प्रस्तर

मूर्तियों, स्मारकों तथा दुर्गादि अवशेषों से भी तत्कालीन इतिहास के सन्दर्भ में भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। सातवाहन युग से लेकर पन्द्रहवीं शती तक दक्षिण भारतीय अधिकांश राजवंशों एवं शासकों द्वारा निर्मित दुर्गो, नगरों, भवनों, मन्दिरों, मूर्तियों, उपकरणों आदि से उस काल विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं आर्थिक जीवन की जानकारी प्राप्त होती है। ऐलोरा, अजन्ता, एलीफेण्टा, कोण्डाने, पीतलखोरा, वातापि, भाजा, कार्ले आदि शैलकृत कृतियाँ इस काल के राजवंशो की समृधता एवं महानता का भौतिक प्रमाण हैं। इसी प्रकार कोणार्क, पुरी, भुवनेश्वर, ऐहोल, काँची, तंजाउर, उरैयूर, हलेविड तथा गंगैकोंडचोलपुरम् के भव्य एवं विशाल मन्दिर प्राचीन दक्षिण भारत के समृद्ध ज्ञान एवं सांस्कृतिक परम्परा के ऐतिहासिक अंकन का जीवन साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

बोध प्रश्न 2

1. दक्षिण भारतीय इतिहास लेखन में पुरातात्त्विक स्रोतों की भूमिका की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

1.3 सारांश

दक्षिण भारत के इतिहास लेखन से सम्बंधित उपलब्ध सामग्री से यह बात तो अत्यंत स्पष्ट है कि वह उस प्रचलित मान्यता की दक्षिण भारत के इतिहास लेखन के लिए पर्याप्त स्रोतों का अभाव है, वह पूर्णतया निराधार है। दक्षिण भारतीय इतिहास की समृद्धता एवं उन्नति का भौतिक प्रमाण वहाँ से प्राप्त होने वाले दुर्ग, नगर, भवन, मन्दिर, मूर्तिया, स्थापत्य एवं उच्च साहित्यिक परम्परा से युक्त संगम साहित्य इस बात की पुष्टि करते है दक्षिण भारत प्राचीन काल से ही उन्नत सांस्कृतिक परम्परा को प्रश्रय देने वाला रहा है।

1.4 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– उपभाग देखें 1.2.1 साहित्यिक स्रोत

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– उपभाग देखें 1.2.2 पुरातात्त्विक स्रोत

1.5 शब्दावली

- साहित्यिक स्रोत – लघु अथवा बृहद्, लिखित अथवा मौखिक सभी प्रकार की रचनाओ को साहित्यिक स्रोतों में रखा जा सकता है ।
- पुरातात्त्विक स्रोत –पुरातात्त्विक स्रोत में मूल रूप से ऐतिहासिक इमारतें, सिक्के, शिलालेख और अन्य अवशेष जैसे भौतिक साक्ष्य आते हैं जो किसी विशेष काल से संबंधित महत्वपूर्ण और विस्तृत जानकारी प्रदान देते हैं।
- विविध पुरातात्त्विक अवशेष–इसके अंतर्गत उत्खनित सामग्री, धातु तथा प्रस्तरमूर्तियों, स्मारकों तथा दुर्गादि अवशेषों सम्मलित होते है जिससे उक्त्कालीन इतिहास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है ।

1.5 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019, दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955, साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958, हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
6. श्रीवास्तव,के. सी.(2019–20), प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति यूनाइटेड बूक डिपो, इलाहाबाद।

इकाई– 2 वाकाटक वंश–स्रोत, प्रवरसेन प्रथम, रुद्रसेन द्वितीय एवं प्रभावती गुप्ता

इकाई की रुपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1. उद्देश्य

2.2 स्रोत

2.3 मूल स्थान

2.4 वाकाटक वंश के इतिहास की रुपरेखा

2.4.1 आरंभिक शासक

2.4.2 प्रवरसेन प्रथम

2.4.3 रुद्रसेन द्वितीय

2.4.4 प्रभावती गुप्ता

2.4.4 परवर्ती शासक एवं पतन

2.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.6 सारांश

2.7 शब्दावली

2.8 संदर्भ ग्रन्थ

2.0 प्रस्तावना

दक्षिण भारत के प्राचीन इतिहास में वाकाटकों का वही प्रतिष्ठित स्थान है जो उत्तर भारत के प्राचीन इतिहास में महान गुप्तों का है। एक समय उनका साम्राज्य उत्तर में मालवा से लेकर दक्षिण में तुंगभद्रा तक और पश्चिम में अरब सागर से लेकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक फैला हुआ था। वे कला और साहित्य के महान संरक्षक थे। प्रायद्वीपीय भारत में सातवाहनों के बाद वाकाटक वंश का एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं ससक्त शक्ति के रूप में उभार हुआ। जिन्होंने लगभग तीन शताब्दियों तक प्रायद्वीपीय भारत में सातवाहनों के बाद वाकाटकों ने शासन किया, दक्षिणापथ में शासन करने वाले समस्त राजवंशों में वाकाटक वंश सर्वाधिक सम्मानित तथा सुसंस्कृत राजवंश था। इस महान

राजवंश ने मध्य भारत तथा दक्षिण भारत के ऊपरी भाग में शासन किया, एवं यह मगध के साम्राज्यवादी गुप्तवंश का समकालीन था। इनके साम्राज्य के अंतर्गत न केवल राजनीतिक स्थिरता आयी अपितु इनका काल सांस्कृतिक दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण रहा, जिनके भौतिक प्रमाण इस राजवंश के अभिलेखों से प्राप्त होते है। वाकाटक शासक विष्णुवृद्धि ब्राह्मण गोत्र से सम्बंधित थे। चालुक्यों, कदम्बों तथा सातवाहनों की ही तरह उन्होंने भी स्वयं को अभिलेखों में 'हारितिपुत्र' कहा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'धर्म महाराज' की उपाधि भी धारण की थी, जो दक्षिण के कुछ वंश यथा पल्लव, कदम्ब व पश्चिमी गंग के लेखों में भी पाई जाती है। अजन्ता से प्राप्त गुहालेख में इस वंश के संस्थापक 'विन्ध्यशक्ति' को, 'वंश केतु' व 'द्विज' कहा गया है। वाकाटक वंश की महत्ता का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि इनका समकालीन गुप्तों, पद्मावती के नाग, कदम्बों तथा आन्ध्र के विष्णुकुण्डिनों से वैवाहिक सम्बन्ध थे।

2.1.उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत, हमारा मुख्य उद्देश्य वाकाटक राजवंश का इतिहास, उनके इतिहास को जानने के साधन, वंश के प्रमुख शासक यथा प्रवरसेन प्रथम, रुद्रसेन द्वितीय एवं प्रभावती गुप्ता, की विजयों, उपलब्धियों एवं उनके शासन व्यवस्था से सम्बंधित विषयों का अध्ययन करेंगे।

2.2 स्रोत

वाकाटक इतिहास के अध्ययन के मुख्य स्रोत अभिलेख हैं, जिनका संपादन वी. वी. मिराशी व अजयमित्र शास्त्री द्वारा किया गया है। इन अभिलेखों में प्रमुख रूप से प्रभावती गुप्ता के पूना व रिद्धपुर ताम्रपत्र, प्रवरसेन द्वितीय की चमक प्रशस्ति, हरिषेण का अजन्ता गुहालेख तथा विध्यशक्ति द्वितीय का बासीम लेख है। यहाँ यह बात बड़ी ही रोचक है की वाकाटक लेखों में गुप्त संवत् का प्रयोग नहीं किया गया है। गुप्त–वाकाटक सम्बन्धों पर पूना, रिद्धपुर लेख तथा अजन्ता गुहालेख इस वंश की राजनीतिक उपलब्धियों पर व्यापक प्रकाश डालते है। पहले ऐसा माना जाता है कि वाकाटकों ने अपनी कोई मुद्राएं जारी नहीं कीं तथा उन्होंने गुप्तों की मुद्रा का ही प्रयोग किया था। किन्तु, हाल ही में वाकाटक द्वारा निर्गत किए गये सात सिक्के बड़ी संख्या में वर्धा क्षेत्र (महाराष्ट्र), मानसर (रामपुर के निकट, नागपुर जिला, महाराष्ट्र) से प्राप्त हुए है। इसी प्रकार, बसाढ (वैशाली) भीटा व नालन्दा से भी में मुहरें व सीलें प्राप्त हुई हैं।

पुराणों के वंशानुचरित अंश से वाकाटक राजवंश की कुछ सूचनाएं

मिलती है। यद्यपि, किसी भी पुराण में वाकाटक राजवंश का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है किन्तु इस वंश के प्रथम शासक विन्ध्यशक्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। 'नृपान् वैदिशिकाश्च' के संदर्भ में राजाओं और राजकुलों के सन्दर्भ में विभिन्न पुराणों से विन्ध्यशक्ति और प्रवीर का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें विन्ध्यशक्ति का तो स्पष्ट उल्लेख है एवं प्रवीर का समीकरण प्रवरसेन प्रथम से किया जाता है। इन दो ही राजाओं का संदर्भ पुराणकारों ने विदिशा से बताया है। अन्य जानकारी जो पुराणों से प्राप्त होते हैं उनमें प्रमुख है कि विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रवरसेन (प्रथम) ने साठ वर्ष तक राज्य किया। यद्यपि मिराशी के अनुसार यह उसके राजत्वकाल नहीं, अपितु अवस्था से सम्बंधित होना चाहिए, अर्थात् उसने ६० वर्ष की अवस्था तक राज्य किया।

2.3 मूल स्थान

वाकाटक वंश के मूल स्थान को लेकर दो तरह के मत व्यक्त किये गए हैं, इतिहासकारों के एक वर्ग का मानना है इस राजवंश का प्रारम्भिक क्षेत्र नर्मदा के उत्तर में विन्ध्य को माना जा सकता है, जिसका आधार पुराणों में वाकाटक वंश को 'विन्ध्य' तथा 'विंध्यशक्ति' को विदिशा (मध्यप्रदेश) का शासक कहा गया है। अजयमित्र शास्त्री के अनुसार वाकाटकों ने सर्वप्रथम स्वयं को विन्ध्य क्षेत्र वर्तमान बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड में स्थापित किया था, यहां से विस्तार कर वे दक्कन की प्रमुख राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरे। वाकाटकों के सिक्कों पर अंकित 'गंगा' की आकृति उनका राजचिन्ह भी इस और संकेत देता है। दूसरी तरफ, इतिहासकारों के एक वर्ग का मानना है की उनका मूल निवास स्थल बरार वर्तमान विदर्भ–महाराष्ट्र था। इसका कई अभिलेखीय आधार है, जैसे अमरावती से प्राप्त एक लेख पर 'वाकाटक' उत्कीर्ण है। दूसरा, वाकाटक लेखों व प्रारम्भिक पल्लव शासक शिव स्कन्दवर्मन् के हीरहडगल्ली व माइदावोलू लेखों में प्रयुक्त शब्दावलियों में काफी समानता है। तीसरा, विध्यशक्ति द्वितीय के बासीम लेख में प्रवरसेन प्रथम को हारीतिपुत्र तथा सर्वसेन प्रथम को धर्म महाराज गया है। ये समान उपाधियाँ दक्षिण भारत के पल्लव, कदम्ब, चालुक्य वंशो द्वारा भी प्रयुक्त की गयी हैं। हरिषेण के अभिलेखों में वर्णित है कि वाकाटकों के मंत्रियों में से किसी एक का परिवार 'वल्लुर' (आन्ध्र प्रदेश) का निवासी था।

2.4 वाकाटक वंश के इतिहास की रुपरेखा

2.4.1 आरंभिक शासक

विन्ध्यशक्ति (255 ई.–275 ई.) अजन्ता के लेख को छोड़कर, वाकाटकों के अभिलेखों में इसका नाम आदि राजा के रूप में नहीं प्राप्त होता है एवं वंश संस्थापक के रूप में प्रवरसेन का नाम आता है। जबकि पुराणों के अनुसार प्रवरसेन प्रथम के पूर्व, उसके पिता के रूप में विन्ध्यशक्ति का विवरण प्राप्त होता है। पुराणों का यह उल्लेख मिलता है कि इसने 16 वर्षों तक राज्य किया। अजन्ता गुफा संख्या 16 के लेख में इसे 'वाकाटक' वंशकेतु बताया गया है। हरिषेण के अजन्ता गुहालेख में उसकी सैन्य शक्तियों का काव्यात्मक चित्रण मिलता है, जिसमें उसकी तुलना पुरन्दर (इन्द्र) व उपेन्द्र (विष्णु) जैसे देवताओं से की गई है। उसने अपने राज्य को विन्ध्य पर्वत के उत्तर में पूर्वी मालवा तक विस्तृत किया। उसने अपने राज्य को विन्ध्य पर्वत के उत्तर में पूर्वी मालवा तक विस्तृत किया। अजन्ता लेख में इसके लिये कोई राजत्व–सूचक उपाधि नहीं दी गयी है। अन्य किसी साक्ष्य से भी इसके राजत्व के विषय में कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। वाकाटक पूर्व में सातवाहनों के अधीन बरार के स्थानीय शासक थे एवं विन्ध्यशक्ति का विधिवत राज्याभिषेक न होने के कारण उसने कोई राजकीय उपाधि धारण नहीं की थी।

2.4.2 प्रवरसेन प्रथम (275–335 ई.)

वाकाटक वंश का पहला एवं एकमात्र शासक जिसने 'सम्राट' की उपाधि धारण की। इसके परवर्ती अन्य शासक मात्र 'महाराजा' उपाधि से संतुष्ट रहे। वाकाटक वंश का वास्तविक संस्थापक प्रवरसेन प्रथम को माना जा सकता है। प्रवरसेन ने एक महत्वपूर्ण राजनीतिक संधि के रूप मे भारशिव नागवंश के प्रसिद्ध शासक भवनाग की पुत्री से अपने पुत्र गौतमीपुत्र का विवाह कराया, जिससे उसकी राजनीतिक निपुणता का अंदाजा लगाया जा सकता है। भारशिवों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके उसने न केवल अपने राज्य की उत्तरी सीमा सुरक्षित की, एवं राज्य को स्थायित्व दिया। उस वैवाहिक सम्बन्ध का महत्त्व का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है की इसका उल्लेख प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण वाकाटक अभिलेखों में किया गया है।

पुराणों से ज्ञात होता है कि उत्तर में इसने आक्रमण करके सतपुड़ा के पहाड़ो में अवस्थित किसी पुरिका नामक नगरी का विजय प्राप्त की, जो पहले किसी नागवंशीय शिशुक के अधीन था। बाद में इसने इस नगर को अपनी राजधानी भी बनाया। अल्तेकर का अनुमान है कि प्रवरसेन के चार अ''वमेघ यज्ञ उसने अपने एक–एक सैनिक अभियान की समाप्ति पर किया होगा। जिसमे, प्रथम अभियान में उसने मध्य प्रान्त के पूर्वी तथा उत्तरी–पूर्वी भाग को जीता।

वहीं, द्वितीय सैनिक अभियान में दक्षिणी वरार तथा उत्तरी–पश्चिमी आन्ध्र प्रदेश को जीत लिया। इसके पश्चात् शेष अभियानों में प्रवरसेन ने गुजरात तथा काठियावाड़ के शकों के ऊपर विजय प्राप्त की। इस प्रकार उसने वाकाटक राज्य का विस्तार सम्पूर्ण मध्यप्रदेश तथा बरार, मालवा तथा उत्तरी महाराष्ट्र, उत्तरी हैदराबाद और दक्षिणी कोशल के कुछ भागों आधुनिक छत्तीसगढ़ तक कर दिया था। अपने शासन के अंतर्गत इसने कचानक नगर की स्थापना कर उसे अपनी राजधानी बनाया। जिसकी वर्तमान पहचान नाचना की तलाई गांव पन्ना, जिला मध्यप्रदेश से की जाती है। यहाँ से वाकाटक के प्रारम्भिक अभिलेख व अन्य संरचनाएं भी प्राप्त हुई है। कुछ विद्वानों का मानना है की उसने संभवतः अपनी राजधानी कचानक से हटाकर पुरीक में स्थापित की।

प्रवरसेन एक सशक्त शासक होने के साथ ही साथ अपने समय का एक महत्त्वपूर्ण वैदिक धर्म संरक्षक भी हुआ। उसने चार अश्वमेध और वाजसनेय यज्ञ भी किया था, जिसके बाद उसने सम्राट् की उपाधि धारण की थी। उसकी अन्य महत्वपूर्ण उपाधियाँ 'धर्ममहाराज' और 'हारीतिपुत्र' भी थी। पुराणों के अनुसार प्रवरसेन प्रथम ने 60 वर्षों तक राज्य किया। मिराशी महोदय, उसके चार अश्वमेधों को देखते इसे शासनकाल की इस अवधि को सही स्वीकार करते हैं।

पुराणों के अनुसार प्रवरसेन प्रथम के चार पुत्र थे, जिसमें गौतमीपुत्र की मृत्यु उसके जीवनकाल में ही हो गयी थी एवं अन्य पुत्रों को संभवतःसाम्राज्य के विभिन्न भागों के राज्यपाल बनाया गया था। प्रवरसेन की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपनी अलग–अलग स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। वासिम दानपत्र से पता चलता है की गौतमीपुत्र के पुत्र सर्वसेन ने वत्सगुल्म में वाकाटक राजवंश का एक शाखा 330 ई० में स्थापित कर ली। वहीं उसके दुसरे पुत्र रुद्रसेन प्रथम, जो कि प्रवरसेन प्रथम का पौत्र और भारशिव महाराज भवनाग का दौहित्र था, उत्तरी विदर्भ में वाकाटकों को ज्येष्ठ शाखा के रूप में राज्य को स्थापित किया। प्रवरसेन के अन्य पुत्रों तथा उनके राजत्व के विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी सुलभ नहीं है। इस प्रकार प्रवरसेन के पश्चात् वाकाटक साम्राज्य दो शाखाओं में विभक्त हो गया प्रधान शाखा तथा वासीम (वत्सगुल्म) शाखा, एवं दूसरी विदर्भ में वाकाटकों की ज्येष्ठ शाखा, एवं ये दोनों शाखायें समानान्तर रूप से शासन करने लगी।

2.4.3 रुद्रसेन द्वितीय (385–390 ई.)

रुद्रसेन प्रथम (335–360 ई.) प्रवरसेन प्रथम का पौत्र तथा गौतमीपुत्र का पुत्र वाकाटक कुल की प्रधान शाखा का पहला शासक था। यह शैव मत को

मानने वाला था और शिव के महाभैरवस्वरूप का उपासक था, अर्थात् उसने अपने वंश के वैष्णव धर्म को त्यागकर शैव धर्म स्वीकार किया। इसके नाम के साथ 'सम्राट' की उपाधि नहीं मिलती है जो यह दर्शाता है की यह यह संभवतः एक निर्बल शासक रहा होगा जिसके काल में वाकाटक वंश की गरिमा एवं शक्ति में कमी आयी।

रुद्रसेन प्रथम का पुत्र तथा उत्तराधिकारी पृथ्वीसेन प्रथम (360–385 ई.) हुआ। उसका शासन शान्ति और समृद्धि का काल था। वाकाटक लेखों में उसे अत्यन्त पवित्र तथा धर्मविजयी शासक कहा गया है जो आचरण में युधिष्ठिर के समान था। वह भी शिव का भक्त था। इस समय उत्तर भारत में चन्द्रगुप्त द्वितीय शासन कर रहा था एवं उसको गुजरात और काठियावाड़ के शकों की विजय करनी थी। सामरिक रूप से यह तभी संभव हो सकता था जब तक कि वाकाटकों का सहयोग मिले। अतः उसने अपनी पुत्री प्रभावतीगुप्ता का विवाह पृथ्वीसेन के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ कर दिया। विवाह के लगभ पाँच वर्षो बाद पृथ्वीसेन प्रथम की मृत्यु हो गयी यह वैवाहिक सम्बन्ध दोनों राजवंशों के लिये लाभकारी रहा। पृथ्वीसेन प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय (385–390 ईस्वी) गद्दी पर बैठा। सम्भवतः अपनी पत्नी प्रभावती गुप्ता और श्वसुर चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रभाव में आकर अपने कुलागत शैव धर्म को छोड़कर वैष्णव धर्म अपना लिया एवं इस समय से वाकाटको का गुप्तों पर प्रभाव बढ़ा। इसके जॉब लेख से प्रतीत होता है कि इसके राज्यारोहण में कोई अड़चन आयी हो, क्योंकि उसमे यह लिखा है कि उसने भगवान चक्रपाणि की कृपा से ही उसने राजत्व की प्राप्ति की। किन्तु रुद्रसेन द्वितीय बहुत लम्बी अवधि तक शासन न कर सका एवं तीस वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गयी।

रुद्रसेन द्वितीय की मृत्य के समय उसका पुत्र दिवाकरसेन और दामोदरसेन अल्प आयु थे, अतः प्रभावती गुप्ता ने संरक्षक के रूप मे अगले 13 वर्षो तक पहले दिवाकरसेन के नाम पर शासन किया। सम्भवतः दिवाकरसेन विना वयस्क हुए और स्वतंत्र राजत्व भोगे ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस अवधि में गुप्त अधिकारी, प्रभावती गुप्ता को वाकाटक शासन में प्रत्यक्ष सहयोग देते थे। दिवाकरसेन के पश्चात उसका अनुज दामोदर वाकाटक राजवंश का शासक बना। यही दामोदर, प्रवसरसेन द्वितीय के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ जिसने 420 से 450 ई० तक शासन किया।

2.4.4 प्रभावती गुप्ता (390 ई. 410 ई.)

रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के बाद उसके दो पुत्र, दिवाकरसेन और

दामोदरसेन दोनों की आयु बहुत कम थी। मिरेगांव, पट्टीगांव से प्राप्त प्रभावती गुप्ता की मुहरों पर उसे 'दो शासकों की माता' कहा गया है।वाकाटकों के इतिहास में इस संकट के समय, चंद्रगुप्त द्वितीय की बेटी प्रभावती गुप्ता ने संरक्षक के तौर पर वाकाटक साम्राज्य को संभाला एवं सशक्त भी बनाया। प्रभावती गुप्ता का काल वाकाटक गुप्त सम्बन्धों का स्वर्णकाल था। चंद्रगुप्त द्वितीय ने अपने वि"वासप्रद प्रशासक, प्रभावती गुप्ता के पास शासन करने में मदद करने के लिए भेजे। प्रभावती गुप्त के पूना अभिलेख, जो तेरहवें वर्ष में राजधानी नंदिवर्धन् से जारी किये गए थे, से पहली बार पता चला कि वह प्रसिद्ध गुप्त सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय की बेटी थी। वाकाटकों के अन्य अभिलेखों के विपरीत, संस्कृत भाषा व ब्राह्मी लिपि (अक्षरों के शीर्ष विलोम रूप से त्रिभुजाकार है, जो वाकाटकों की प्रचलित लिपि से भिन्न है) में उत्कीर्ण किया गया है। इस लेख में प्रभावती गुप्ता को धारण गोत्रीय बताया गया है, जो उसके पिता चन्द्रगुप्त का गौत्र था। इसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय को 'भागवत' भी कहा गया एवं स्वयं प्रभावती गुप्ता को 'परम भागवत' या 'वाकाटकों का आभूषण' कहा गया है जिससे, वाकाटक दरबार में गुप्त प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखता है। उस समय वाकाटक दरबार आने वाले अधिकारियों में महान् संस्कृत कवि कालिदास भी थे। विदर्भ में रहते हुए उन्होंने अपने वि"व प्रसिद्ध काव्य 'मेघदूत' की रचना की। कालिदास ने वाकाटक राजधानी के निकट रामगिरि (आधुनिक रामटेक) को अपना निवास स्थान बनाया था। मेघदूत में वर्णित रामगिरि से विदि"ा तक का मार्ग केवल रामटेक के लिए उपयुक्त है, अन्य किसी स्थान के लिए नहीं। रघुवंश के 18वें सर्ग में कालिदास के छह वर्षीय सुदर्शन का जो वर्णन किया है वह संभवतः कवि ने वाकाटक दरबार में जो देखा उससे प्रेरित है। वासीम शाखा इस समय विन्ध्यशक्ति द्वितीय शासन का रहा था। इस काल में प्रभावतीगुप्ता का कोई विरोध वासीम शाखा द्वारा नहीं किया गया जिससे यह प्रतीत होता है की, इस दौरान दोनों शाखाओं के सम्बन्ध मधुर बने रहे। इसी समय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शक–राज्य जो गुजरात और काठियावाड़ में विस्तारित था पर आक्रमण किया, अपने पिता के इस अभियान में प्रभावतीगुप्ता ने सेना तथा धन दोनों से मदद किया। संभव है वाकाटकों के सहयोग का बड़ा योगदान शकों के उन्मूलन में रहा होगा। दामोदरसेन जो प्रवरसेन द्वितीय के नाम से शासक बना, के शासन काल में भी लगभग 25 वर्षों तक प्रभावतीगुप्ता जीवित रही। उसकी भगवान विष्णु में उसकी गहरी आस्था थी। पूना तथा रिद्धपुर से उसके दानपत्र प्राप्त होते हैं, जिसमें विस्तार से उसके दानों का उल्लेख प्राप्त होता है।

2.4.4 परवर्ती शासक एवं पतन

प्रभावतीगुप्ता के बाद उसके पुत्र को प्रवरसेन द्वितीय ने वाकाटक राजवंश की बागडोर संभाली एवं अपने साम्राज्य को मजबूत बनाया। वह साहित्यिक अभिरुचि का शासक था, जिसने 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य ग्रन्थ की रचना की थी। प्रवरसेन द्वितीय के बाद क्रमशः नरेन्द्रसेन एवं उसके बाद के पश्चात् उसका पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय (460–480 ईस्वी) वाकाटक वंश की प्रधान शाखा का राजा बना। उसके बालाघाट लेख में उसे 'परमभागवत' कहा गया है। पृथ्वीषेण द्वितीय वाकाटकों की प्रधान शाखा का अन्तिम शासक था। उसके बाद उसका राज्य लगभग 490 ईस्वी में वासीम शाखा के हरिषेण के हाथों में चला गया।

2.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1. वाकाटक वंश के इतिहास को जानने के साधन एवं प्रवरसेन प्रथम की विजयों एवं उपलब्धियों की विस्तार से चर्चा करें।

उत्तर– उपभाग देखें 2.2 एवं 2.4.2

बोध प्रश्न 2. प्रभावती गुप्ता के शासन काल एवं गुप्तों के साथ संबंधो की विवेचना करें।

उत्तर– उपभाग देखें 2.4.4

2.6 सारांश

तीसरी शताब्दी ईस्वी से छठी शताब्दी ईस्वी तक दक्षिणापथ में शासन करने वाले समस्त राजवंशों में वाकाटक वंश सर्वाधिक ससक्त राजवंश था। वाकाटक काल में न केवल साम्राज्य विस्तार देखने को मिलता है अपितु साहित्य एवं कला में जो कीर्तिमान स्थापित किया गया वह इनके बाद के राजवंशो के लिए अनुकरणीय रहा एवं जिसकी धारा चोल काल तक अनवरत रूप से चलती रही था।

2.6 शब्दावली

वासीम (वत्सगुल्म) शाखा वाकाटक वंश की इस शाखा की स्थापना 330 ईस्वी के लगभग सम्राट प्रवरसेन प्रथम के छोटे पुत्र सर्वसेन बत्सगुल्म नामक स्थान पर स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। वत्सगुल्म महाराष्ट्र के अकोला

जिले में आधुनिक वासीम में स्थित था। इसमें कुल 6 शासक हुए। प्रधान शाखा रू पद्मपुर– नन्दिवर्द्धन का प्रवरपुर वंश, कुल 10 शासक हुए। परम भागवत रू वैष्णव धर्म में चरम आस्था रखने वाला ।

2.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास वि"वविद्यालय, मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

इकाई 3 पल्लव वंश–प्रारम्भिक इतिहास, सिंहविष्णु, महेन्द्रवर्मन् प्रथम, नरसिंहवर्मन् प्रथम, परमेश्वरवर्मन् द्वितीय

इकाई की रुपरेखा

3.0 प्रस्तावना

3.1. उद्देश्य

3.2 स्रोत

3.3 पल्लव वंश के इतिहास की रुपरेखा

3.3.1 प्रारम्भिक इतिहास

3.3.2 सिंहविष्णु

3.3.3 महेन्द्रवर्मन् प्रथम

3.3.4 नरसिंहवर्मन् प्रथम

3.3.5 परमेश्वरवर्मन् द्वितीय

3.3.6 परवर्ती शासक एवं पतन

3.4 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.5 सारांश शब्दावली

3.6 शब्दावली

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 प्रस्तावना

चौथी शती ई. से आठवीं शती ई. तक पूर्वी दक्षिणापथ के भौगोलिक क्षेत्र में सर्वाधिक शक्तिशाली पल्लवों का भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान है। पल्लवों के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष का मुख्य केन्द्र काँची था। पल्लवों ने नागवंशी शासकों को हराकर काँची पर अपना अधिकार स्थापित किया। पल्लव राज्य का प्राथमिक उल्लेख प्रयाग प्रशस्ति तथा 'ह्वेनसांग' के यात्रा विवरण में मिलता है। प्रयाग प्रशस्ति में दक्षिण भारतीय राज्यों के विरुद्ध सामरिक अभियानों के क्रम में काँची के शासक विष्णुगोप के पराजय का विवरण आया है। इसी प्रकार

'ह्वेनसांग' के यात्रा वृत्तान्त में पल्लवों की राजधानी काँची नगरी में गौतम बुद्ध के गमन एवं प्रवास तथा वहाँ अशोक द्वारा निर्मित लगभग 100 ऊँचे स्तूपों का उल्लेख किया किया है।

पल्लवों का साम्राज्य पेन्नार नदी से कावेरी नदी की घाटी तक विस्तृत था। पल्लवों की नगरी काँची की प्रशंसा में 'पवनदूत' के प्रणेता धोयी ने लिखा है कि काँची अमरावती के दर्प को नष्ट करने वाली तथा दक्षिण भारतीय नगरों की आभूषण थी। पल्लव शासकों के समानांतर उनका सबसे प्रबल संघर्ष बादामी के चालुक्यों से हुआ, जिसने निश्चित तौर पर दोनों ही वंशो को पतन की ओर धकेला। इस संघर्ष का मूल कारण, राजनीतिक प्रतिद्वंदिता से इतर कृष्णा–तुंगभद्रा के बीच के रायचूर दोआब पर अधिकार स्थापित करने को लेकर था। इन दोनों नदियों के मध्य के दो आब को दक्षिण भारत का सर्वाधिक उपजाऊ भाग माना जाता है। आगे चलकर यही क्षेत्र चोल एवं उत्तरवर्ती चालुक्यों के बीच भी संघर्ष का प्रमुख कारण बना। नीलकण्ठ शास्त्री महोदय ने इस रायचूर दोआब को दक्कन का युद्ध स्थल कहा है।

3.1.उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पल्लव काल के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करना है। हम यहाँ विवेचन करेंगे, पल्लव वंश के प्रारम्भिक इतिहास एवं इस वंश के महान शासकों के बारे में जिन्होंने इस वंश को स''क्त बनाया। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1. पल्लव वंश के प्रारम्भिक इतिहास के स्रोतों के बारे में।
2. पल्लव वंश के प्रारंभिक शासकों के सन्दर्भ में।
3. पल्लव वंश के महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली शासकों की विजय एवं साम्राज्य विस्तार के बारे में।
4. पल्लव वंश के महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली शासकों की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियों की।

3.2 स्रोत

पल्लव काल में साहित्य एवं कला के विकास को बहुत गति मिली, विशेषकर संस्कृत तथा तमिल भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी। संस्कृत ग्रन्थों में सोढ़ल कृत 'अवन्तिसुन्दरीकथा' तथा महेन्द्रवर्मन् प्रथम कृत मत्तविलासप्रहसन का प्रमुख रूप से उल्लेख किया जा सकता है। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' से पल्लवनरेश सिंहविष्णु के समय की राजनीतिक तथा

सांस्कृतिक घटनाओं यथा, मामल्लपुरम् तथा वहाँ स्थित अनन्तशायी विष्णु की मूर्ति का भी उल्लेख हुआ है। 'मत्तविलासप्रहसन' में कापालिकों तथा भिक्षुओं पर व्यंग कसा गया है तथा साथ ही साथ प्रशासन, पुलिस तथा न्याय विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार की विस्तृत व्याख्या की गयी है। तमिल ग्रन्थों में 'नन्दिकलम्बकम्' से हमे नन्दिवर्मन् तृतीय के जीवनवृत्त तथा उपलब्धियों के बारे में जानकारी प्राप्त होती हैं। साथ ही विस्तार से पल्लवकालीन काँची नगर के समाज तथा संस्कृति का विवरण भी प्राप्त होता है। जैन ग्रन्थ 'लोक विभाग' से हमे नरसिंहवर्मन् के राज्य तथा शासन का ज्ञान प्राप्त होता है, वही बौद्ध ग्रन्थ 'महावंश' से प्रारम्भिक पल्लव शासकों को तिथि का निर्धारण करने में मदद मिलती है।

चीनी यात्री ह्वेनसांग 640 ई0 में पल्लवों की राजधानी काँची की यात्रा पर आया था। इस समय पल्लव शासक नरसिंहवर्धन् प्रथम राज्य कर रहा था, ह्वेनसांग उसे 'महान् राजा' के रूप में वर्णित करता है। ह्वेनसांग विवरण से यह भी पता चलता है कि काँची धर्मपाल बोधिसत्व की जन्मभूमि थी एवं काँची में अनेक बौद्ध विहार थे जिनमें बहुसंख्यक भिक्षु निवास करते थे। ह्वेनसांग ने काँची तथा महाबलीपुरम् के वैभव का चित्रण भी किया है।

पल्लव इतिहास के पुनर्निर्माण में सर्वाधिक प्रामाणिक साधन अभिलेख हैं, जिनमें प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भाषाओं का प्रयोग मिलता है। ये लेख मन्दिरों, शिलाओं, ताम्रपत्रों तथा मुद्राओं पर उत्कीर्ण हैं तथा इनमें वंशावली तथा तिथियाँ भी अंकित है। इनकी खास बात यह है कि इनमे शासकों की राजनैतिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया हैं। इन अभिलेखों में शिवस्कन्दवर्मन् के मैडवोलु तथा हीरहडगल्लि के लेख पल्लवों के प्रारंभिक इतिहास को जानने के महत्वपूर्ण साधन हैं। ये प्राकृत भाषा में है, इनका काल लगभग 250 ई0 से लेकर 350 ई० तक माना जा सकता है, जबकि संस्कृत के लेखों का काल 350 ई0 से 600 ई0 के बीच का माना जा सकता है। इनमें कुमारविष्णु द्वितीय का केन्दलूर दानपत्र तथा नन्दिवर्मन् का उदयेन्दिरम् दानपत्र है। सिंहविष्णु एवं उसके उत्तराधिकारियों के इतिहास जानने के लिये पल्लव कालीन कई अभिलेख प्राप्त हुए है जिनमे प्रमुख रूप से, कशाकुडी दानपत्र, मण्डगपट्ट लेख, कूरम दानपत्र, गढ़वाल दानपत्र, बेलूरपाल्यम् अभिलेख, उदयेन्दिरम् दानपत्र, बाहूर अभिलेख, पल्लवरम् अभिलेख, पत्रमल्ले अभिलेख, वायलूर अभिलेख, वैकुण्ठपेरुमाल अभिलेख आदि महत्वपूर्ण हैं।

3.3 पल्लव वंश के इतिहास की रुपरेखा

3.3.1 प्रारम्भिक इतिहास

प्राचीन भारतीय इतिहास कि यह बड़ी ही भारी विडम्बना रही है कि प्राचीन राजवंशो के प्रारंभिक इतिहास या यूँ कहा जाये कि उनकी उत्पत्ति का प्रश्न सदैव से इतिहासकारों के मध्य मतभेद का विषय रहा है। पल्लवों के सन्दर्भ में भी यही मतभेद दिखाई देता है, अपने महत्वपूर्ण राजनैतिक एवं सांस्कृतिक अवदान के बाद भी इनकी उत्पत्ति के सन्दर्भ में दो तरह के मत दिखाई देते है। पहला है, विदेशी उत्पत्ति का, इसमें में भी दो तरह के विचार है जिसमे पहले वर्ग में जे. डुब्रील, बी. वेंकडै, बी. एल. राईस, एस. एन. अय्यर, सी. आर. श्रीनिवासन् आदि इतिहासविद् पह्लव शासकों को मानते है। जिसका आधार उनके अनुसार पल्लव एवं पह्लव दोनों नामों में पर्याप्त समानता, काँची के एक मन्दिर में पल्लव नृपति नन्दिवर्मन् द्वितीय के के शीर्ष पर इण्डोग्रीक राजा डेमेट्रियस की भांति ही गजशीष की आकृति निर्मित का होना है। बी. एल. राइस एवं जे. डुब्रील के अनुसार महाक्षत्रप रुद्रदामन का पह्लव मन्त्री सुविशाखा ने ही काँची के सुप्रसिद्ध पल्लव राजवंश की स्थापना की थी।

विदेशी उत्पत्ति के दूसरे वर्ग में, बी. ए. स्मिथ, एम. एस. रामास्वामी आयंगर तथा रसनयगम मुदालियर जैसे विद्वान् उन्हें सिंहल अथवा श्रीलंका का मूल निवासी स्वीकार करते हैं। मुदालियर के अनुसार पल्लव शासकगण मूलतः चोल एवं नागवंशों के पारस्परिक सम्मिश्रण से उद्भूत संतान प्रतीत होते हैं। इन विद्वानों की धारणा है कि पल्लवों का आदि देश दक्षिणी सिंहल का तमिल क्षेत्र था तथा वे चोड़ (चोल) नागवंश से सम्बन्धित थे। जिसकी जानकारी संगमयुगीन प्रसिद्ध संकलित ग्रन्थ 'मणिमेखलै' से प्राप्त होती है। श्रीलंका के चोलनृपति किल्लिवन का विवाह नागशासक मणिपल्लव की नागवंशीय कन्या के साथ सम्पन्न हुआ था, इनके पुत्र का नाम टोण्डैमान इलत्तिरैयन रखा गया। यह आगे चलकर टोण्डमंडलम् प्रदेश का शासक बना दिया गया। जिसकी राजधानी कांची नगरी थी एवं टोण्डैमान इलत्तिरैयन ने उपर्युक्त राज्य की स्थापना अपनी आदरणीय नागवंशीया माता की जन्म भूमि 'मणिपल्लव' के नाम पर की। आगे चलकर मणि नाम प्रचलन में न रह सका केवल 'पल्लव' नाम ही स्वीकृत होता चला गया। यद्यपि बी. ए. स्मिथ महोदय के अनुसार पल्लवों का मूल देश वर्तमान श्रीलंका माना जा सकता है। कालान्तर में इन्हीं श्रीलंकाई मूल के पल्लवों ने शक्ति को बढ़ाकर धुर दक्षिण भारतीय चेरो (केरलों) तथा चोलों के राज्य पर विजय प्राप्त कर ली तथा इन विजित क्षेत्रों पर पल्लव राज्य की

स्थापना कर ली एवं काँची को अपनी राजधानी बनाया।

विदेशी उत्पत्ति कि अवधारणा व्यक्त करने वाले विद्वानों के मत में कई विसंगतिया है जैसे कि, पल्लव कालीन अभिलेखों एवं उनके अन्य सांस्कृतिक क्रियाकलापों, उनकी पह्लव जाति से सम्बन्धित होने का उल्लेख नहीं करते है। साथ ही वे पह्लव–वंशीय सांस्कृतिक परम्परा से पूर्ण अनभिज्ञ होकर विशुद्ध भारतीय परम्पराओं अ"वमेघादि वैदिक यज्ञों के पोषक थे। इसी प्रकार पल्लव–इतिहास से सम्बन्धित किसी भी साक्ष्य से उनकी श्रीलंका से सम्बन्धित देशोत्पत्ति पर प्रकाश नहीं पड़ सका है। पल्लवों की मूल भाषा, सांस्कृतिक परम्पराएँ उन्हें सर्वविध भारतीय मूल से ही जोड़ता है न कि बाह्य देशों से। अतः उनका मूल अभिधान भारतीय ही माना जा सकता है।

के. पी. जायसवाल, के. ए. सथैनथैयर, एस. के. आयंगर, आर. गोपालन् एन. सुब्रह्मण्यम् नीलकण्ठ शास्त्री, डी. सी. सरकार, ऐलेक्जेण्डर रे, टी. वी. महालिंगम् तथा बलराम श्रीवास्तव जैसे इतिहासकार पल्लवों को भारतीय मूल से सम्बद्ध मानते हैं। के. पी. जायसवाल के मतानुसार पल्लव राजवंश सम्भवतः वाकाटक राजवंश की ही एक उपशाखा थी, क्योकि दोनों ही राजकुलों का सम्बन्ध भारशिव–नागों से था। परन्तु इस मत को मानने में थोड़ी–सी कठिनाई प्रतीत होती हैं, क्योंकि वाकाटक ब्राह्मण जाति के थे एवं सुप्रसिद्ध तालगुण्ड अभिलेख में पल्लवों को स्पष्टतः क्षत्रिय उद्घोषित किया गया है। कृष्णस्वामी आयंगर तथा आर. आर. आयंगर महोदय ने पल्लवों को तमिल प्रदेश का स्थायी निवासी बताते हुए उन्हें प्राथमिक अवस्था में सातवाहनों के अधीन सामन्त शासक माना है। कालान्तर में आन्ध्र–सातवाहन राज्यसत्ता के समापन के उपरान्त पल्लवों ने उक्त प्रदेश में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। इस मत का आधार पल्लव राजाओं के कतिपय प्रारम्भिक अभिलेख आन्ध्र प्रदेश से ही उपलब्ध हुए हैं, को माना जा सकता है। इतिहासविद् आर. संथैनथैयर तथा डी. सी. सरकार ने पल्लवों को तोण्डैमंडलम् प्रदेश का मूलनिवासी माना है, संथैनथैयर की यह धारणा कि अशोक के शिलालेखों में उल्लिखित 'पलद' अथवा 'पुलिन्द' सम्भवतः पल्लवों से ही सबंधित रहा होगा। उन्होंने यह स्पष्टतः उल्लेख किया है कि 'पल्लव' तमिल शब्द 'टोण्डैयर' का ही रुपान्तर प्रतीत होता है। अतः, पल्लवों का मूल क्षेत्र 'टोण्डैमंडल' को मानने में कोई ऐतिहासिक विप्रतिपन्नता नहीं दिखती है। डॉ. के. सी. श्रीवास्तव का मानना है कि पल्लवों में उत्तर भारत के भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मणों तथा काँची के आसपास के राजवंशों के रक्त का सम्मिश्रण था। इन्होने नागों को परास्त कर काँची के ऊपर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कालान्तर में उनका साम्राज्य विस्तार करके उत्तर में पेन्नार

नदी से दक्षिण में कावेरी नदी की घाटी तक राज्य स्थापित कर लिया तथा काँची को अपनी राजधानी बनाया।

पल्लव वंश के प्रारम्भिक शासकों का ज्ञान वस्तुतः प्राकृत तथा संस्कृत ताम्रलेखों से ज्ञात होता है। प्राकृत ताम्रलेखों में पल्लव वंश का प्रथम शासक सिंहवर्मा बताया गया है, जिसका काल तृतीय शताब्दी ई० के अन्तिम चरण था। उसके बाद उसका उत्तराधिकारी शिवस्कन्दवर्मा चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ में शासक बना, जिसके आठवें वर्ष का लेख हीरहडगल्ली से मिला है। जिसमे अनेक प्रदेशों की विजय के बाद उसने अ''वमेध, वाजपेय आदि वैदिक यज्ञों का भी अनुष्ठान किया एवं 'धर्ममहाराज' की उपाधि धारण की। उसका साम्राज्य कृष्णा नदी से दक्षिणी पेन्नार नदी तक फैला था और वेलारी पर भी उसका अधिकार था। शिवस्कन्दवर्मा के पश्चात् स्कन्दवर्मा जिसका एक ताम्रलेख गुन्टूर जिले में मिला है चतुर्थ शताब्दी में पल्लव शासक बना। इस अभिलेख में उसके युवराज वुद्धवर्मा तथा उसके पुत्र, संभवतः बुद्धयांकुर का उल्लेख है। काँची के पल्लव शासक विष्णुगोप जिसका उल्लेख गुप्तसम्राट समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से मिलता है जिसे समुद्रगुप्त ने पराजित किया। वस्तुतः, विष्णुगोप का पूर्ववर्ती शासकों के साथ क्या सम्बन्ध था, यह निश्चित कर सकना कठिन है किन्तु फिर भी यह माना जा सकता है कि संभवतः चतुर्थ शती के तृतीय चरण (375 ई0) में काँची का शासक था उसके नाम का उल्लेख संस्कृत तथा प्राकृत दोनों ही भाषाओं के अभिलेखों में हुआ है। उपरोक्त विवेचना के आधार पर माना जा सकता है कि पल्लव वंश की स्थापना तृतीय शताब्दी ईस्वी में हो चुकी थी जिसका प्रमाण इनके प्राकृत एवं संस्कृत अभिलेखों से प्राप्त होता है। इस वंश का वास्तविक उत्कर्ष सिंह वर्मा (550–575) के काल से शुरू होता है एवं जिसका समापन इस वंश के अंतिम शासक अपराजित के साथ होता है।

3.3.2 सिंह विष्णु (575–600 ई0)

सिंह विष्णु एक पराक्रमी एवं विद्यानुरागी राजा था। उसके राजदरबार में संस्कृत के महान् कवि भारवि रहते थे। उसके राजसभा में संस्कृत के महान् कवि भारवि रहते थे जिन्होंने किरातार्जुनीयम् की रचना की थी। कशाकुडी दानपत्र, से ज्ञात होता है कि सिंहविष्णु ने कलभ्र, चोल, पाण्ड्य तथा सिंहल के राजाओं को पराजित किया था। उसने चोल शासक को पराजित कर चोलमण्डलम् पर अधिकार कर कावेरी तक अपना राज्य विस्तृत कर लिया एवं 'अवनिसिंह' की उपाधि धारण की। मामल्लपुरम् के आदिवराह गुहामन्दिर में दो रानियों की प्रतिमा के साथ उसकी भी प्रतिमा अंकित है। सम्भवतः इस वैष्णव

मन्दिर का निर्माण उसी ने करवाया था। उसके पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम राजसिंहासन पर बैठा।

3.3.3 महेन्द्रवर्मन् प्रथम (600 ई० से 630 ई० तक)

सिंहविष्णु के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम पल्लव शासक बना। उसने अपनी कूटनीतिक क्षमता तथा सैन्य शक्ति के बल पर एक शक्तिशाली पल्लव साम्राज्य की स्थापना की। उसके समकालीन मुख्य चुनौतियाँ उत्तरपश्चिम में वातापि के चालुक्य तथा घुर दक्षिण में पाण्ड्यों का साम्राज्य था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि दक्षिण भारत में प्रभुसत्ता की स्थापना के क्रम में इन राज्यों में पारस्परिक संघर्ष होगा तथा इन साम्राज्यों का भविष्य उसके योग्य शासकों की क्षमता एवं योग्यता पर ही आधारित होगा।

ऐहोल प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि, संभवतः पुलकेशिन् द्वितीय ने कदम्बों एवं वेंगी के राज्यों पर अधिकार करने के बाद पल्लव राज्य की और रुख किया। यह पल्लव एवं चालुक्य संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण भी रहा होगा क्योकि कदम्बों एवं पल्लवों के मध्य राजनयिक सम्बन्ध थे क्योकि कदम्बों के सहयोग से ही पल्लवों ने अपने पारम्परिक शत्रु गंगवाड़ी राज्य के गंगों पर अंकुश लगाया था चेर्जला–अभिलेख से भी ये प्रमाण मिलता है कि, आन्ध्र राज्य का आधुनिक गंटूर जनपद क्षेत्र पर चालुक्यों ने अधिकृत कर लिया, जिस पर पहले पल्लवों का अधिकार था।

ऐहोल प्रशस्ति से ज्ञात होता है पल्लव नरेश ने चालुक्य सेना से पूरे सामर्थ्य से युद्ध किया, किन्तु अंत में पराजित होकर उसने राजधानी काची में छुप कर अपनी प्राणरक्षा की अधिकांश विद्वानों ने पल्लव नरेश की पहचान महेन्द्रवर्मन् प्रथम से की है। कशाकुड्डी अभिलेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने पुल्लिलूर के युद्ध में अपने प्रमुख शत्रुओं को पराजित किया था। विद्वानों की धारणा है कि इस युद्ध में महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने संभवतः पुलकेशिन् द्वितीय को ही पराजित किया होगा। किन्तु टी. वी. महालिंगम् का विचार है कि पुल्लिलूर के युद्ध में सम्भवतः वातापि नरेश पुलकेशिन् द्वितीय के स्थान पर गंग राजा द्वारा बनाये संघ को महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने पराजित किया, क्योकि यह संभव नहीं प्रतीत होता है कि यदि महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने पुलकेशिन् द्वितीय को पराजित किया होता एवं उसका उल्लेख समकालीन किसी अभिलेख में नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में ऐहोल अभिलेख के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, पुलकेशिन् द्वितीय ने अपने उक्त अभियान में महेन्द्रवर्मन् प्रथम को पराजित तो किया किन्तु उसके राज्य का अधिग्रहण नहीं किया था एवं कुछ ही समय बाद पल्लवपति

महेन्द्रवर्मन् पुनःअपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।

टी. वी. महालिंगम् विचार व्यक्त करते हैं कि पुलकेशिन् द्वितीय ने चोल शासक नल्लडि को सैनिक सहायता देकर उसे पल्लवों के आधिपत्य से मुक्त करा। महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने अपने कौ"ाल से चालुक्यों से काँची तथा कावेरी घाटी की रक्षा तो कर ली। फिर भी दोनों उदीयमान शक्तियों के बीच तनाव बढ़ता ही गया। जिसका प्रमाण चालुक्य एवं पल्लव संघर्ष के रूप में दिखाई देता है। महेन्द्रवर्मन् प्रथम कला एवं साहित्य का महान् संरक्षक था, वह स्वयं भी एक संगीतज्ञ एवं साहित्यकार था। उसने अपनी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों के अनुकूल गुणभर, मत्तविलास, विचित्रचित्त, महेन्द्रविक्रम, अवनिभाजन, चेत्थकारी शत्रुमल्ल, चित्रक्कारप्पुलि आदि अनेक उपाधियाँ धारण की थी। उसके द्वारा लिखित ग्रन्थों में 'मत्तविलासप्रहसन' तथा 'भगवदज्जुकीयम्' विशेष उल्लेखनीय हैं। उसने प्रसिद्ध संगीतज्ञ रुद्राचार्य से संगीत की शिक्षा ली थी एवं संभवतः उसने संगीत शास्त्र पर भी एक शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा था। उनके राजकीय संरक्षण में संवातः द्वारा लिखित 'कुडिमियामलय' विशेष उल्लेखनीय है, जिसमे संगीत शास्त्र के सिद्धान्तों को व्याख्यायित किया गया है। उसने संस्कृत भाषा में अभिलेखों को उत्कीर्ण करवाया। महेन्द्रवर्मन् प्रथम अपने प्रारम्भिक जीवन में वह जैन धर्मावलम्बी था, परन्तु बाद में उसने शैव संत अप्पर के प्रभाव में शैव मत को अपना लिया। तिरुचिरापल्ली अभिलेख में उसे महान् शिव–लिङ्गोपासक बताया कहा गया है। महेन्द्रवर्मन् प्रथम यद्यपि शैव धर्म को मानने वाला था फिर भी उसके शासनकाल में शैव एवं वैष्णव धर्मो का विकास हुआ, एवं अनेक विशाल एवं भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया था। मंडगपट्टु–अभिलेख से ज्ञात होता है कि 'विचित्रचित्त' महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु आदि देवों की आराधना एवं समर्पण हेतु अनेक एकाश्मक मन्दिरों का निर्माण करवाया।

बोध प्रश्न 1

1. महेन्द्रवर्मन् प्रथम की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

.....

3.3.4 नरसिंहवर्मन् प्रथम (लगभग 630 ई0 से 668 ई0 तक)

नरसिंहवर्मन् प्रथम –(लगभग 630 ई0 से 668 ई० तक) नरसिंहवर्मन् प्रथम 630 ई० के लगभग महेन्द्रवर्मन् प्रथम की मृत्यु के बाद पल्लव राजगद्दी पर बैठा वह एक योग्य पिता की योग्य सन्तान था, इसने अपने पिता की राजनीतिक और सांस्कृतिक विरासत का निर्वाह योग्यतापूर्वक किया। इसमें असाधारण पौरुष था और इस दृष्टि से इसकी उपाधि 'महामल्ल' सर्वथा उचित प्रतीत होती है। वह अपने वंश का सबसे प्रतापी एवं शक्तिशाली शासक था। संभवतः, महेन्द्रवर्मन् के मृत्योपरान्त अपने पूर्व पराजय की प्रतिक्रिया स्वरूप पुलकेशिन् द्वितीय ने,अपनी शक्ति की संयोजित करके आक्रमण कर दिया। कूरम–ताम्रपत्रों से पता चलता है, नरसिंहवर्मन् प्रथम ने उत्तरापथेश्वर हर्ष को पराजित करने वाले शक्तिशाली सम्राट पुलकेशिन् द्वितीय को क्रमशः पेरियाड, मणिमङ्गलम् तथा शूरमार के युद्धों में पराजित कर अपनी पीठ पर विजय अक्षर अंकित कराया। संभवतः यह अभियान 634–35 ई० में हुआ, क्योंकि 631 ई० में कोप्परम–दानपत्रों में कर्मराष्ट्र पर पुलकेशिन् द्वितीय के आधिपत्य की सूचना मिलती है।

पुलकेशिन् द्वितीय द्वारा पल्लव राज्य पर किये गए अभियानों का प्रतिशोध लेने के क्रम में नरसिंहवर्मन् प्रथम ने एक सामरिक योजना तैयार की तथा राजधानी वातापि पर आक्रमण कर दिया। कशाक्कुडि अभिलेख से ज्ञात होता है कि पल्लव सेना ने वातापि को चारों ओर से घेर कर उसे नष्ट–भ्रष्ट कर दिया, एवं चालुक्य सम्राट पुलकेशिन् द्वितीय न केवल पराजित किया अपितु उसकी हत्या भी कर दी गयी। संभवतः नरसिंहवर्मन् प्रथम ने चालुक्यों पर यह विजयाभियान अपने शासनकाल के 13 वें वर्ष में किया था। नन्दिवर्मन् तृतीय के वलूरपाल्यम अभिलेख तथा सुप्रसिद्ध पेरियपुराण में उल्लेख मिलता है कि इस विजय के उपलक्ष्य के नरसिंहवर्मन् प्रथम ने वातापिकोण्ड की उपाधि धारण की। चालुक्य राज्य पर कितने समय तक पल्लवों का अधिपत्य रहा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु इस युद्ध के लगभग 13 वर्षो बाद तक चालुक्य वंश का इतिहास अंधकारपूर्ण दिखाई देता है ।

हैदराबाद अभिलेख से ज्ञात होता है, कि 655 ई० के लगभग पुलकेशिन् के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने अपने नाना गंग शासक दुर्विनीत की सहायता लेकर पल्लवों से अपने राज्य को मुक्त करा लिया। इस सन्दर्भ में, 668 ई० का तलमचि लेख कर्मराष्ट्र प्रदेश पर विक्रमादित्य प्रथम के आधिपत्य को पुष्ट करता है। गदवल लेख से सूचना मिलती है कि विक्रमादित्य प्रथम ने नरसिंहवर्मन् प्रथम 'मामल्ल' को पराजित करके स्वयं 'राजमल्ल' की उपाधि धारण की। विक्रमादित्य प्रथम ने अपने पिता के अपमान का बदला चुकाकर, पल्लवों द्वारा

अपहृत चालुक्य राज्य को भी उनसे मुक्त करा लिया।

सिंहल (श्रीलंका) राज्य पर विजय अथवा राजनयिक सम्बन्ध

कशक्कुड्डी अभिलेख में नरसिंहवर्मन् प्रथम कि तुलना श्रीलंका के विजयी राम से की गई है। बौद्ध महाकाव्य 'महावंश' से ज्ञात होता है कि श्रीलंका के राजा मानवर्मन् तथा नरसिंहवर्मन् प्रथम में गहरी मित्रता थीं एवं चालुक्यों तथा पल्लव राज्य के मध्य संघर्ष में मानवर्मन् ने भी अपनी सेना के साथ युद्ध में भाग लिया। संघर्ष की समाप्ति के बाद नरसिंहवर्मन् प्रथम ने अपने सहयोगी मानवर्मन् को उनका राज्य दिलाने के उद्देश्य से जिसे वहाँ के राजत्व से पदच्युत कर दिया गया था के साथ अपनी सेना को श्रीलंका भेजा। पल्लव सेना ने सफलता पूर्वक उसके प्रतिद्वन्दी 'दत्योपतिश' को राजधानी छोड़कर भागने पर विवश कर दिया। किन्तु नरसिंहवर्मन् गम्भीर रूप से अस्वस्थ होने के कारण पल्लव सेना को बीच में ही काँची वापस बुला लिया गया जिसका फायदा उठाकर पुनः विद्रोहियों ने राजा मानवर्मन् को बाहर खदेड़ दिया। अतः दुबारा से, मानवर्मन् को उसका राज्य दिलाने श्रीलंका के लिए पल्लव सेना नरसिंहवर्मन् प्रथम ने भेजी एवं सेना का मनोबल बढ़ाने के लिए स्वयं भी प्रस्थान किया। यह अभियान सफल रहा एवं मानवर्मन् ने न केवल श्रीलंका का राजसिंहासन प्राप्त किया, अपितु विरोधी हत्थदत्थ की हत्या भी कर दी।

सामरिक सफलताओं के अतिरिक्त नरसिंहवर्मन् प्रथम महान् कला एवं वास्तु प्रेमी सम्राट् था। द्रविड़ वास्तुकला के क्षेत्र में महेन्द्रवर्मन् प्रथम द्वारा प्रवर्तित स्तम्भ निर्माण कला में सिंह शीर्ष अंकन का अभिनव विन्यास का प्रयोग जिसे "मामल्ल स्तम्भ" कहा जाता है, अपनी रचना एवं अलंकरणात्मक अंकनों में एक ऐसे योग का सूत्रपात करते है जो आगमी दक्षिण भारतीय वास्तु का अभिन्न हिस्सा बन गए। बी. वेंकय्या का तो यहाँ तक मत है कि महाबलिपुरम् के रथमन्दिरों तथा उसके पतन का विन्यास दोनों ही इसी नरेश की कलाप्रियता की देन है। ह्वेनसांग ने नरसिंहवर्मन् प्रथम के शासन काल में ही 'तोण्डैमंडलम्' तथा काँची की यात्रा की एवं कई दिनों तक यहाँ रहा भी थी। उसने वहाँ की समृद्धि, बौद्धोंमठों, बिहारों, मन्दिरों, तथा विद्यालयों आदि का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत किया है।

बोध प्रश्न 2

2. नरसिंहवर्मन् प्रथम की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियां की व्याख्या करें।

उत्तर .....

3.3.5 परमे"वरवर्मन् द्वितीय

परमे"वरवर्मन् द्वितीय से पहले पल्लव राजवंश में तीन मुख्य राजाओं ने राज्य किया अतः पहले उनके बारे में संक्षेप में जान लेना जरुरी है। नरसिंहवर्मन् प्रथम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् द्वितीय केवल दो वर्षों (668–670 ई0) के लिए शासक बना। उसका काल, शासन एवं समृद्धि का काल था।

महेन्द्रवर्मन् द्वितीय के बाद उसका पुत्र परमे"वरवर्मन् प्रथम (670–700 ई0) शासक बना। इसके समय में पल्लव चालुक्य संघर्ष पुनः छिड़ गया। गदवल दानपत्र से ज्ञात होता है कि पहले तो परमेश्वरवर्मन् को हार का सामना करना पड़ा किन्तु बाद में उसने पुनः जोरदार आक्रमण किया एवं पेरुवडनल्लूर नामक स्थान पर विक्रमादित्य की सेना को बुरी तरह से पराजित कर दिया। जिसकी वजह से चालुक्य नरेश पल्लव राज्य को छोड़कर अपनी राजधानी लौटने के लिये बाध्य हुआ। परमेश्वरवर्मन् प्रथम इसी विजय का उल्लेख कूरम लेख से भी प्राप्त होता है। परमे"वरवर्मन् शैव मत को मानने वाला था एवं अन्य पल्लव शासकों की तरह उसने भी लोकादित्य, एकमल्ल, रणंजय, अत्यन्तकाम, उग्रदण्ड, गुणभाजन आदि उपाधियां ग्रहण की थीं।

नरसिंहवर्मन् द्वितीय(700 ई0–728 ई०), परमेश्वरवर्मन् प्रथम के पश्चात उसका पुत्र नरसिंहवर्मन् द्वितीय उत्तराधिकारी था जिसने लगभग आठ वर्षों तक राज्य किया। उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि मंदिर निर्माण के दिशा में काँची के कैलाशनाथ मन्दिर तथा महाबलीपुरम् के शोर मन्दिर का निर्माण करवाना था। उसकी राज्य सभा में संस्कृत के प्रख्यात लेखक दण्डिन् निवास करते थे। उसके काल में एक दूत–मण्डल चीन के लिए भेजा गया था।

परमे"वरवर्मन् द्वितीय, जो नरसिंहवर्मन् द्वितीय उत्तराधिकारी था, यह सिंहविष्णु की परम्परा का अन्तिम शासक था। ऐसा संभव है कि इसके शासन के अन्तिम वर्षों में पल्लवों और चालुक्यों के बीच पुनः संघर्ष की शुरुवात हुई, संभवतः विक्रमादित्य द्वितीय चालुक्य ने परमे"वरवर्मन् द्वितीय को पराजित किया। इस संघर्ष में चालुक्यों का सहयोग गंगवंशीय श्रीपुरुष का पुत्र एरेय्प्प ने गंग सेना का नेतृत्व कर रहा था। इस सामरिक अभियान का सन्दर्भ 735 ई० के उलचल

अभिलेख से प्राप्त होता है। इसमें उल्लिखित है कि चालुक्याधिपति ने काँची पर आक्रमण कर वहाँ के शासक परमेश्वरवर्मन् द्वितीय को पराजीत करके उसकी विपुल सम्पत्ति अपहृत कर ली। सम्भवतः इसी के द्वारा पराजित होकर परमेश्वरवर्मन् द्वितीय युद्ध में मारा गया। गंगराज ने पल्लवों पर विजय प्राप्त करने के क्रम में पल्लवों के छत्र को अधिग्रहित कर 'पेर–माण्डी' की उपाधि धारण की। परमे''वरवर्मन् द्वितीय, एक नीतिपरक एवं धर्मांत शासक था, वेलूरपाल्यम् लेख में उसे मनु द्वारा स्थापित नीतियों का पोषक, वही कशाक्कुडि अभिलेख में वृहस्पति नीति आदर्शों का संरक्षक तथा कुशल प्रशासक कहा गया है।

बोध प्रश्न 3

1. परमे''वरवर्मन् द्वितीय की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियां की व्याख्या करें

उत्तर .....

.....

.....

.....

3.3.6 परवर्ती शासक एवं पतन

नन्दिवर्मन् द्वितीय (730 ई0 से 800 ई0) परमेश्वरवर्मन् की आकस्मिक मृत्यु के बाद उसकी शाखा में कोई भी उसका उत्तराधिकारी बनने वाला नही रहा। अतः समानान्तर शाखा के हिरण्यवर्मा के पुत्र राजकुमार नन्दिवर्मन् द्वितीय को राजा चुना गया। वह सिंहविष्णु के भाई भीमवर्मा की परम्परा का शासक था। राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग ने नन्दिवर्मन् को हराकर काँची पर अधिकार कर लिया, परन्तु कालान्तर में राष्ट्रकूट नरेश ने अपनी कन्या रेवा का विवाह नन्दिवर्मा के साथ कर दिया। तंडनतोट्टम् दानपत्र से पता चलता है कि नन्दिवर्मा ने गंगराज्य पर आक्रमण कर उसके दुर्ग पर अधिकार कर लिया। नन्दिवर्मन् वैष्णव मतानुयायी था, प्रसिद्ध वैष्णव सन्त तिरुमङ्गई आलवर उसके समकालीन थे। उसने कांची के मुक्ते''वर मन्दिर तथा बैकुण्ठ–पेरुमाल मन्दिर का निर्माण करवाया था।

नन्दिवर्मन् द्वितीय के पश्चात् उसका एवं राष्ट्रकूट कन्या रेवा से उत्पन्न पुत्र दन्तिवर्मन् शासक बना। गोविन्द तृतीय के मन्ने लेख में दन्तिवर्मन् को उसका

'महासामन्ताधिपति' कहा गया है। संभवतः 804 ई0 में गोविन्द तृतीय ने काँची पर आक्रमण किया, जिसमे दन्तिवर्मन् पराजित हुआ। दन्तिवर्मन् को पाण्ड्यों के आक्रमण का भी सामना करना पड़ा तथा कावेरी क्षेत्र पर पाण्ड्यों ने अधिकार जमा लिया। दन्तिवर्मन् भी वैष्णव धर्म का अनुयायी था। वैलूरपाल्यम् अभिलेख में उसे 'विष्णु का अवतार' कहा गया हैं।

दन्तिवर्मन् की मृत्यु के बाद उसका पुत्र नन्दिवर्मन् तृतीय (846–69 ई0) शासक बना। अभिलेखों से पता चलता है कि उसने पाण्ड्यों की सेना को कई युद्धों परास्त किया था। नन्दिकलम्बकम् के अनुसार नन्दिवर्मन् ने पलैपूर, वेल्लारु, नेल्लारु, कुरुगोण्ड, तेल्लारु, साडी, वेरियल्लूर, कुरुकोट्टै आदि युद्धों में विजय प्राप्त की थी। नन्दिवर्मन् ने पुनः कावेरी क्षेत्र पर अपना अधिकार सुदृढ़ कर लिया। दन्तिवर्मन् ने राष्ट्रकूटों के साथ फिर से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया तथा राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष ने अपनी कन्या शंखा का विवाह उससे कर दिया। नन्दिवर्मन् तृतीय ने तमिल साहित्य को संरक्षण प्रदान किया। उसकी राजसभा में प्रसिद्ध कवि सन्त पेरुन्देवनार निवास करते थे, जिसने 'भारतवेणवा' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

नन्दिवर्मन् तृतीय के मृत्य के पश्चात् नृपतुङ्ग (869–880 ई0) राजा बना, वाहूर दानपत्र से पता चलता है कि उसने पाण्ड्यों को पराजित किया था। वाण राजवंश के लोग उसकी अधीनता स्वीकार करते रहे। वह अत्यंत उदार तथा विद्या–प्रेमी शासक था।

कॉंची के पल्लववंश का यह अन्तिम महत्वपूर्ण शासक अपराजित था। 885 ई0 के लगभग उसने गंगनरेश पृथ्वीपति तथा चोलनरेश आदित्य प्रथम की सहायता से पाण्डयवंशी शासक वरगुण द्वितीय को श्रीपुरम्वियम् के युद्ध में पराजित किया। इसमें पाण्ड्यों की शक्ति पूर्णतया नष्ट हो गयी। 903 ई0 के लगभग चोल नरेश आदित्य प्रथम ने उसकी हत्या कर दिया तथा दक्षिण भारत की प्रभुसत्ता पल्लवों से चोलवंश में हाथों आ गयी।

2.3 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– उपभाग देखें 3.3.3

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– उपभाग देखें 3.3.4

बोध प्रश्न 3.

उत्तर– उपभाग देखें 3.3.5

3.5 सारांश

लगभग 550 ई0 में सिंहवर्मन् ने जिस पल्लव राजवंश की नींव रखी थी, वह अपराजित के शासन काल के साथ लगभग 903 ई0 समाप्त हुआ। लगभग 400 वर्षो के अन्तराल में पल्लव राजवंश के अंतर्गत दक्षिण भारत में राजनीतिक स्थिरता दिखाई देती है, यद्यपि इस काल में पल्लव–चालुक्य संघर्ष भी अनवरत चलता रहा लेकिन इसके बाद भी दक्षिण भारत में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विकास के जो प्रतिमान स्थापित हुए उनके भौतिक प्रमाण आज भी हमारे सामने विद्यमान हैं। पल्लव कला एवं इस काल में साहित्य की जो प्रगति हुई उसने आगामी चोलों को सुसंस्कृत आधार प्रदान किया।

3.6 शब्दावली

- **दक्षिणापथ** – दक्षिण भारत की ओर जाने वाला मार्ग।
- कापालिक शैव धर्म के अंतर्गत आने वाला एक सम्प्रदाय।
- **विचित्रचित्त** – महेन्द्रवर्मन् प्रथम की एक उपाधि।
- राजमल्ल– नरसिंहवर्मन् प्रथम 'मामल्ल' को पराजित करके विक्रमादित्य प्रथम ने उपाधि ग्रहण की।

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालयः मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, लंदनः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

6. श्रीवास्तव, के. सी.(2019–20), प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृतिरू यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद।

इकाई 4 बादामी के चालुक्य स्रोत, प्रारंम्भिक इतिहास– पुलकेशिन् द्वितीय एवं विक्रमादित्य द्वितीय

इकाई की रुपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.0. उद्देश्य

4.2 स्रोत

4.3 बादामी के चालुक्य के इतिहास की रुपरेखा

4.3.1 आरंभिक शासक

4.3.2 पुलकेशिन् द्वितीय

4.3.3 विक्रमादित्य द्वितीय

4.3.4 परवर्ती शासक एवं पतन

4.4 शब्दावली

4.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.6 सारांश

4.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.1 प्रस्तावना

उत्तर भारत जिस समय हर्ष के नेतृत्व में संगठित हो रहा था एवं धुर दक्षिण में पल्लव अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे थे, इन्ही के समानांतर विन्ध्य के दक्षिण में चालुक्यों की सत्ता की स्थापना भी हो रही थी। ईसा की छठी शताब्दी के मध्य से लेकर आठवीं शताब्दी के मध्य बादामी के चालुक्य वंश की शाखा, जिसे पूर्वकालीन पश्चिमी चालुक्य भी कहा गया है ने, एक स"ाक्त वंश की स्थापना की। वर्तमान कर्नाटक राज्य के बीजापुर जिले में स्थित बादामी (वातापी) से सम्बंधित होने के कारण इन्हें बादामी का चालुक्य कहा गया। इनके राजत्व के अंतर्गत न केवल एक ऐसे साम्राज्य की स्थापना हुई जिसके अंतर्गत केवल स्थापित प्राप्त हुआ अपितु विद्या, कला और धर्म का भी समग्र विकास हुआ, भौतिक प्रमाण आज भी बादामी, ऐहोल एवं अजंता की गुफाओ में देखे जा सकते हैं।

प्राचीन भारतीय राजवंशो की ही भांति चालुक्य वंश की उत्पत्ति के विषय में स्पष्ट सूचना के आभाव में विद्वानों में उनकी उत्पत्ति को लेकर दो तरह के मत हैं। विन्सेण्ट ए. स्मिथ इन्हें विदेशी मानते हैं तथा उनका सम्वन्ध 'चंप' जाति से जोड़ते हैं, जो विदेशी गुर्जर जाति की ही एक शाखा थी। वराहमिहिर कृत 'बृहत्संहिता' के आधार पर कुछ विद्वान् इन्हें 'शूलिक' जाति से सम्बन्धित मानते है। राजपूतों की भांति चालुक्यों की उत्पत्ति को भी चन्द्रवरदाई द्वारा विरचित पृथ्वीराजरासो में ब्रह्मर्षि वशिष्ठ द्वारा आबू पर्वत पर किए गए लोक विश्रुत यज्ञ के अग्निकुण्ड से उत्पन्न बताया गया है।दूसरी तरफ 'विक्रमादेवचरित' में इनकी उत्पत्ति भगवान् ब्रह्मा के चुलुक से बताई गई है। ह्वेनसांग ने अपने विवरण में पुलकेशिन् द्वितीय को स्पष्टतः क्षत्रिय कहा है।

भारतीय इतिहासकार दिनेश चन्द्र सरकार, का मानना है कि चालुक्य जाति संभवतः कन्नड़ कुल की एक शाखा थी, तथा इसके संस्थापक का नाम 'चलिक' चल्क अथवा 'चलुक' था। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार इस राजवंश का मूल नाम 'चल्क्य' था। बाद में इसी से विकसित होकर चालुक्य, चौलुक्य रूप हो गया। संभवतः कदम्ब, राष्ट्रकूट आदि वंशो के ही समान चालुक्य भी किसी स्थानीय कुल से संबंधित थे। प्रारम्भ में वे कदम्व राजाओं के अधीन सामंत के रूप में कार्य कर रहे थे। बाद में अपनी शक्ति बढ़ाकर उन्होंने राजनीतिक प्रभुता प्राप्त कर लिया।

4.1. उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य बादामी के चालुक्य वंश के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करना है। हम यहाँ अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार से बादामी के चालुक्य वंश की स्थापना हुई एवं इस वंश के महान् शासकों की राजनीतिक उपलब्धियाँ क्या थी। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1.बादामी के चालुक्य वंश के प्रारम्भिक इतिहास को जानने में महत्वपूर्ण स्रोतों के बारे में।

2.बादामी के चालुक्य वंश के प्रारंभिक शासकों के सन्दर्भ में।

3.बादामी के चालुक्य वंश के महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली शासकों की विजय एवं साम्राज्य विस्तार के बारे में।

4.बादामी के चालुक्य वंश के महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली शासकों की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियों की।

4.2 स्रोत

चालुक्य वंश के इतिहास के सन्दर्भ में चीनी यात्री ह्वेनसांग तथा ईरानी इतिहासकार तबरी के यात्रा वृतांत से भी काफी जानकारी प्राप्त होती है। हवेनसांग ने पुलकेशिन् द्वितीय की शक्ति एवं प्रशासन की प्रशंसा करते हुए उसके साम्राज्य के अंतर्गत जनकल्याणकारी शासन का वर्णन करता है। तबरी के विवरण से ईरानी साम्राज्य एवं चालुक्य साम्राज्य के मध्य राजनयिक सम्वन्धों की जानकारी प्राप्त होती है। बादामी के चालुक्य वंश के इतिहास को जानने के लिए सर्वाधिक प्रामाणिक साधन अभिलेख हैं। पुलकेशिन् द्वितीय का आधुनिक कर्नाटक प्रान्त के बीजापुर जिले से प्राप्त ऐहोल अभिलेख इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जिसकी तिथि 634 ईस्वी है। इस लेख की भाषा संस्कृत है, जिसकी रचना रविकीर्ति ने की थी। इसमें हम चालुक्य इतिहास के साथ ही साथ समकालीन राजवंश लाट, मालवा, गुर्जर आदि के शासकों के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती हैं, यद्यपि इस लेख का मुख्य विषय पुलकेशिन् द्वितीय की उपलब्धियों से सम्बंधित है। इसमें पुलकेशिन् के हर्षवर्धन् के साथ युद्ध का भी विवरण प्राप्त होता है। बादामी के किले से एक शिलाखण्ड प्राप्त होता है जिसकी तिथि 543 ईस्वी है। इसमें 'वल्लभे''वर' नामक चालुक्य शासक का उल्लेख मिलता है जिसकी पहचान पुलकेशिन् प्रथम से जाती है। कीर्तिवर्मन् प्रथम की विजयों के सन्दर्भ में बीजापुर जिले के कूट से प्राप्त अभिलेख विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। हैदराबाद दानपत्र अभिलेख से पुलकेशिन् द्वितीय की 'परमे''वर' की उपाधि का पता चलता है, इसमें पुलकेशिन् द्वितीय के विभिन्न विजयों के बारे में भी विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है। इन महत्वपूर्ण लेखों के अतिरिक्त, कर्नूल, तलमचि, नौसारी, गढ़वाल, रायगढ़, पट्टदकल आदि से भी अनेक ताम्र लेख प्राप्त हुए हैं।

4.3 बादामी के चालुक्य के इतिहास की रुपरेखा

4.3.1 आरंभिक शासक

बादामी के चालुक्य राजवंशों का प्रथम ऐतिहासिक शासक जयसिंह था, जिसका उल्लेख कैरा–ताम्रपत्र से ज्ञात होता है। वह संभवतः वनवासी के कदम्व नरेशों का सामन्त शासक था। जयदेवमल्ल के दौलताबाद–लेख में कदम्ब–नरेशों के ऐश्वर्य का विनाशकर्त्ता के रूप में बताया गया है। छठीं शती ई० की प्रचलित लिपि में लिखित वाटिका–लेख में जयसिंह नामक प्रशासक का

हरिवत्स किले के सन्दर्भ में उल्लेख आया है, सम्भवतः यह वातापि के चालुक्य राजवंश का प्रथम शासक था। इसके पश्चात जयसिंह के पुत्र रणराग नामक शासक का उल्लेख प्राप्त होता है, संभवतः इसका समय 520 ई० रहा होगा। इसके शासन काल का कोई अभिलेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है।

रणराग के बाद उसका पुत्र पुलकेशिन् प्रथम शासक बना। सम्भवतः 535 अथवा 540 ई० में वह राजसिंहासन पर बैठा चालुक्य अभिलेखों में उसे वातापि राज्य का प्रथम भाग्य–विधाता तथा वातापि दुर्ग का निर्माणकर्ता कहा गया है। अपनी योग्यता एवं सामरिक क्षमता के बल पर बादामी राज्य की शक्ति को सम्मानजनक स्थिति में पहुँचा कर स्वतन्त्र चालुक्य राजवंश की नींव डाली। वातापि अभिलेख एवं महाकूट स्तम्भ लेख के अनुसार पुलकेशिन् प्रथम ने अपने शासनकाल में अश्वमेध, वाजपेय, अग्निष्टोम, अग्निचयन, पौंडरीक, बहुसुवर्ण तथा हिरण्यगर्भ आदि यज्ञों को सम्पन किया था।

पुलकेशिन् प्रथम के बाद उसका पुत्र कीर्तिवर्मन् प्रथम 566 ईस्वी के लगभग शासक बना, चालुक्य अभिलेखों में उसे महान विजेता बताया गया है यद्यपि इन विजयों की प्रमाणिकता संदिग्ध है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि उसने बनवासी के कदम्बों को अवश्य पराजित किया था। उसने समीपवर्ती राजवंशों को पराजित करके दक्षिण महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा तमिलनाडु के कुछ प्रदेशों तक अपना अधिकार कर लिया था। कोंकण के मौर्य राज्य पर अधिकार कर कीर्तिवर्मन् प्रथम ने गोआ (रेवतीद्वीप) पर भी अधिकार कर लिया जो एक महत्वपूर्ण बंदरगाह था। अपने राजनीतिक विजयों के उपलक्ष्य में कीर्तिवर्मन् ने पुरुरणपराक्रम, पृथ्वीवल्लभ एवं सत्याश्रय आदि अनेक उपाधियाँ धारण की। 598 ई० में कीर्तिवर्मन् की मृत्यु बाद उसका छोटा भाई मंगलेश शासक बना क्योंकि उस समय उसके सभी पुत्र छोटे थे।

मंगलेश (597–98ई.–609ई.) एक महापराक्रमी नरेश हुआ। ऐहोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि मंगलेश ने वीरता से कलचुरि नरेश को पराजित किया। इस विजय के बाद मंगलेश ने क्रमशः वल्लभी–नरेश एवं कदम्बों का समूल उखाड़ फेंकने में सफलता प्राप्त कर ली। ऐहोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि मंगलेश अपने पुत्र सत्याश्रय ध्रुवराजइन्द्रवर्मन् को उत्तराधिकारी बनाना चाहता था किन्तु कीर्तिवर्मन् प्रथम के वैध उत्तराधिकारी पुलकेशिन् द्वितीय ने अपने चाचा मंगलेश से राज्यसत्ता छीन कर उसे गृह–युद्ध में पराजित करके उसकी हत्या कर दी।

4.3.2 पुलकेशिन् द्वितीय (609–10ई. से 642–43ई.)

पुलकेशिन् द्वितीय को संभवतः राजत्व प्राप्त करने के क्रम में गृहयुद्ध का

सामना करना पड़ा, जैसे कि रविकीर्ति के शब्दों में चालुक्य कुल शत्रुरूपी अन्धकार से घिर गया था एवं पुलकेशिन् द्वितीय ने पुनः वातापी को संगठित किया। इस क्रम में सबसे पहले आप्पायिक और गोविन्द ने भीमरथी नदी के तट पर भारी सेना के साथ उसके राजत्व का विरोध किया। यद्यपि दोनों किस वंश से सम्बंधित थे यह स्पष्ट नहीं है संभवतः ये मंगलेश के पक्षधर रहे होंगे अथवा पुलकेशिन् के राजत्व के विरोधी रहे होंगे। ऐहोल अभिलेख से पता चलता है कि इनमे से एक ने पुलकेशिन् की अधीनता स्वीकार थी और एक भाग गया था।

इस संघर्ष के बाद पुलकेशिन् द्वितीय का अगला विरोध कदम्बों ने किया। संभवतः ये कदम्बों पर चालुक्य का अन्तिम प्रहार था, क्योंकि इसके बाद कदम्ब पुनः चालुक्यों के विरोधी के रूप में कभी उठ नहीं सके। कदम्बों का बनवासी नगर, जिसकी ऐ''वर्य और शोभा विख्यात थी, को पुलकेशिन् द्वितीय ने अपनी गजसेना से घेर लिया एवं कदम्बों को पराजित किया। इसके पश्चात पुलकेशिन् द्वितीय ने तलकाड़ के गंगनरेश दुविनीत को पराजित किया एवं उसकी कन्या से विवाह किया। इसी क्रम में उसने अलूप, दक्षिणी कनारा, कोंकण के मौयों को भी पराजित किया। पुलकेशिन् द्वितीय ने अपना अगला अभियान पश्चिमी तट के व्यापारिक और आर्थिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण समुद्रपतन पुरी वर्तमान एलिफेंटा द्वीप, जिसे ऐहोल अभिलेख में अपरान्त की लक्ष्मी कहा है पर आक्रमण किया। यद्यपि मंगलेश के समय में लाट के बुद्धराज ने कुछ समय के लिए चालुक्य सत्ता की अधीनता स्वीकार की थी, किन्तु स्थायी विजय स्थापित करने की दृष्टि में पुलकेशिन् ने लाट, मालव और गुर्जर देश पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन कर लिया।

पुलकेशिन् द्वितीय के विजय अभियानों में उसकी सबसे बड़ी सफलता 'उत्तरापथ नाथ' हर्ष पर विजय के रूप में मानी जा सकती है। हर्ष, जिसने उत्तर भारत में लगभग सभी महत्वपूर्ण शासकों को पराजित किया था। साम्राज्य विस्तार के क्रम में वह नर्मदा नदी तक अपना राज्य विस्तार कर चुका था, अतः यह बड़ा ही स्वाभाविक था कि उसका सहज टकराव दक्षिण की सबसे स''ाक्त शक्ति पुलकेशिन् द्वितीय से होता। ह्वेनसांग के चीनी विवरण से ज्ञात होता है कि स्वयं हर्ष ने पुलकेशिन् द्वितीय के विरुद्ध आक्रमण किया था, यद्यपि इस संघर्ष का परिणाम हर्ष के पक्ष में नहीं गया। ह्वेनसांग के अनुसार मो–हा–ल–च (महाराष्ट्र) के राजा पुलोकिशे ने हर्ष की अधीनता स्वीकार नहीं की। उसके विवरण के अनुसार शीलादित्य ने पूर्व और पश्चिम दिशाओं की विजय के बाद अपने साथ भारी सेना के साथ दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया था, किन्तु दक्षिणापथ के स्वामी पुलकेशिन् द्वितीय पर अपना अधिकार स्थापित करने में वह

असफल रहा ।

रविकीर्ति द्वारा लिखित ऐहोल अभिलेख में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि जिसमें पुलकेशिन् द्वितीय के पराक्रम से हर्षवर्द्धन की सेना विगलित हुई, अतुलित ऐ"वर्य एवं सामन्त समूहों के मुकट मणियों से देदीप्यमान कमल चरणों वाले महाराज हर्ष का सारा हर्ष, समरभूमि में चालुक्य–सेना द्वारा मारे गये असंख्य हाथियों तथा युद्ध के भीषण आतंक से हर्षरहित हो गया।

इस युद्ध में हर्ष की पराजय का उल्लेख निर्पन, तोगरंचेवु, कर्नूल आदि चालुक्य–अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। यद्यपि इस महत्वपूर्ण युद्ध की वास्तविक तिथि तथा सही युद्ध–स्थल के निर्धारण को लेकर विद्वानों में मतभेद है। विन्सेण्ट ए० स्मिथ का मानना है कि यह युद्ध नर्मदा तट के समीप ही कहीं संपन्न हुआ होगा। जबकि, रमेश चन्द्र मजूमदार का मत स्मिथ के उपर्युक्त मत से भिन्न है। उनका मानना है कि लाट, मालव तथा गुर्ज्जर–राज्य सम्भवतः हर्षवर्द्धन एवं पुलकेशिन् द्वितीय की साम्राज्य सीमाओं के बीच स्थित थे। साथ ही इनकी स्थिति नर्मदा नदी तट के आस–पास ही मानी जा सकती हैं। चूंकि ये राज्य पुलकेशिन् द्वितीय के साम्राज्य के अंग थे अतः हर्षवर्द्धन एवं पुलकेशिन् द्वितीय के बीच हुए युद्ध नर्मदा नदी से पर्याप्त दूर मध्य–भारत में हुआ होगा। युद्ध–स्थल की ही तरह युद्ध का काल भी इतिहासकारों के मध्य बड़ा विवादास्पद है। राधा कुमुद मुकर्जी, जे० एफ० फ्लीट, के० ए० फ्लीट, के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय आदि विद्वान् युद्ध का समय 612 ई० अथवा इसके कुछ वर्ष पूर्व निधारित करते है। जिसका आधार ह्वेनसांग का विवरण है जिसके अनुसार हर्षवर्धन् ने अपने शासनकाल के प्रथम छः वर्षों में निरन्तर युद्ध किया एवं 'पंच–भारत' को अपने अधीन कर लिया था। उसके पश्चात् उसने लगातार 30 वर्षों तक शान्तिपूर्वक शासन किया। हर्षवर्धन् का राज्यारोहण 606 ई० में हुआ था।

यद्यपि उपरोक्त तिथि को लेकर एक व्यवहारिक समस्या है, पुलकेशिन् द्वितीय का राज्यारोहण 610 ई० के आस–पास तथा हर्षवर्धन् का 606 ई० में हुआ। दोनों नरेशों को अपने राजत्व के आरंभिक दौर में आतंरिक विद्रोहों को दबाना पड़ा था ऐसे में इतने बड़े युद्ध में संलग्न होने से पहले निश्चित तौर पर दोनों को ही कई वर्षों का अन्तराल गुजारना पड़ा होगा। पुलकेशिन् द्वितीय के 630 ई० लोहनेर अभिलेख में साथ ही इससे पहले के ज्ञात किसी भी अभिलेख में इस युद्ध की चर्चा नहीं की गई है। सर्वप्रथम 634–35 ई० में उत्कीर्णित ऐहोल प्रशस्ति में इस युद्ध का विशद् उल्लेख मिलता है। अतः संभवतः यह युद्ध 630 ई० से 634–35 ई० के मध्य स्वीकार करना अधिक तार्किक प्रतीत होता है।

सेमुअल बील द्वारा ह्वेनसांग के विवरण में उल्लिखित हर्षवर्धन् द्वारा 'पंच भारत' की विजय वाले अंश का अनुवाद किया, उनके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष लगातार 30 वर्ष तक युद्धों में संलग्न रहा। इसी विवरण के आधार पर रमेश चन्द्र मजूमदार, अनन्त सदाशिव अल्तेकर तथा रमाशंकर त्रिपाठी का मत है कि हर्ष – पुलकेशिन् के बीच यह युद्ध 630 ई. के उपरान्त संभवतः 634–35 ई. में हुआ होगा। इस युद्ध में हर्ष की राजसेना को भारी क्षति उठानी पड़ी और हर्ष ने नर्मदा के नीचे कभी भी दृष्टि नहीं डाली। पुलकेशिन् द्वितीय का नर्मदा तक प्रभाव स्थिर हो गया तथा उसने 'परमे''वर' की उपाधि धारण की।

ऐहोल लेख के अनुसार 'उच्चकुलोत्पन्न', गुणों से पूर्ण धर्ममार्ग से प्राप्त प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति एवं उत्साहशक्ति में विभूषित इन्द्र के समान पुलकेशिन् ने निन्यानवे हजार गाँवों वाले तीन महाराष्ट्रों का आधिपत्य प्राप्त कर लिया, जिसमें 99000 ग्राम थे। यद्यपि इन त्रिमहाराष्ट्रकों की वास्तविक स्थान सुनिश्चित नहीं है। सरकार महोदय का मानना है कि इससे तात्पर्य महाराष्ट्र, कोंकण तथा कर्नाटक के प्रदेशों से हो सकता है। जबकि नीलकण्ठ शास्त्री का मानना है कि संभवतः ये ग्राम नर्मदा तथा ताप्ती नदियों के बीच के थे।

ऐहोल प्रशस्ति के अनुसार पुलकेशिन् द्वितीय की विजयों से भयभीत होकर कोसल तथा कलिंग देश के राजाओं आत्म समर्पण कर दिया था। यद्यपि कोसल राज्य की वास्तविक स्थिति क्या थी स्पष्ट नहीं है फिर भी साधारणतया वर्तमान मध्य प्रदेश, उड़ीसा एवं छत्तीसगढ़ के कुछ जिलों को दक्षिण कोसल राज्य के अन्तर्गत माना गया है। इसी क्रम में पुलकेशिन् द्वितीय ने कलिंग देश के पूर्वी–गंग राज्य पर भी आक्रमण कर उसे भी पराजित किया, जिसकी राजधानी कलिङ्गनगर थी। यद्यपि पराजित गंग–शासक के नाम को लेकर इतिहासकारों में मतभेद ळें पुलकेशिन् द्वितीय की अन्य महत्वपूर्ण विजयों में पूर्वी समुद्रतट से लगे आन्ध्र–राज्य जिसकी राजधानी पिष्टपुर (वर्तमान पीठापुरम्) पर अधिकार करना था। चालुक्य अभिलेखों से ज्ञात जानकारी के अनुसार संभवतः यह युद्ध कोणाल झील (कोल्लेरू झील) के निकट हुआ था। तत्कालीन आन्ध्रराज्य के विष्णुकुण्डिन वंश शासक जो पर्याप्त शक्तिशाली था। अन्तिम क्षण तक चालुक्यों से लड़ता रहा। यद्यपि इस आन्ध्र नृपति की पहचान संदिग्ध है, किन्तु यह स्पष्ट है की वह युद्ध में पराजित हुआ। दिनेश चन्द्र सरकार इसकी पहचान विक्रमेन्द्रवर्मन् तृतीय से एवं एस० शंकरनारायनन के अनुसार पराजित आन्ध्र शासक विक्रमेन्द्रवर्मन् चतुर्थ का पुत्र था। इस सन्दर्भ में मारुट्र के चालुक्य–अभिलेख विशेष मत्वपूर्ण है। इससे यह ज्ञात होता है कि पुलकेशिन् द्वितीय ने 617–18 ई० के पूर्व ही आन्ध्रप्रदेश पर विजय प्राप्त कर ली थी। इस

आधार पर कुछ इतिहासकार आन्ध्र शासकों की पहचान इन्द्रवर्मन् से करते है। पुलकेशिन् द्वितीय ने आंध्र राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया तथा वहाँ अपने अनुज विष्णुवर्धन् को आन्ध्रराज्य का शासक नियुक्त किया। पुलकेशिन् द्वितीय के शासनकाल के अंतिम वर्षों में सम्भवतः 632 ई० के लगभग विष्णुवर्धन् ने स्वयं को स्वतंत्र कर लिया एवं बेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश की नीव रखी।

पुलकेशिन् द्वितीय ने साम्राज्य विस्तारवादी महत्वाकांक्षी की नीति को अपनाते हुए दक्षिण की उभरती शक्ति पल्लव राज्य को भी आक्रान्त करने के लिए पल्लवराज्य पर आक्रमण करके उसे आक्रान्त कर दिया। आन्ध्र एवं पल्लव राज्यों की सीमाएँ परस्पर मिलती थी। अतः आंध्र विजय के बाद संभवतः पल्लव राज्य पर यह अभियान सर्वथा संभावित थी। अभिलेखीय साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि पुलकेशिन् द्वितीय ने पल्लव राज्य पर दो बार आक्रमण किया जिसमे से पहला आक्रमण संभवतः 617–618 ई. में हुआ होगा। इस समय पल्लव साम्राज्य पर उस समय महेन्द्रवर्मन् प्रथम का शासन था। ऐहोल प्रशस्ति के वर्णन के अनुसार चालुक्य सेना के पदतल से उठाने वाले धूलकणों से वैभवशाली पल्लव नरेश की चमक धूमिल हो गई तथा पराजय की डर से वह काँची की दीवारों के भीतर छुप गया। इस अभियान पुलकेशिन् द्वितीय को सफलता तो मिली किन्तु वह पल्लव साम्राज्य की राजधानी काँची को पूर्णतया अधिकृत करने में सफल नहीं हो सका यद्यपि उसने पल्लव–राज्य के उत्तरी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया।

पल्लव शासक नन्दिवर्मन् के शासनकाल के कुशाक्कुडि लेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रवर्मन् प्रथम ने काँची के सन्निकट पुल्लूर के मैदान में अपने प्रतिद्वन्द्वी शत्रुओं को परास्त किया, यद्यपि इसमें शत्रुओं का नामोल्लेख नहीं मिलता है। कुछ विद्वान् महेन्द्रवर्मन् द्वारा पराजित शत्रु के रूप में पुलकेशिन् द्वितीय को मानते हैं, दूसरी तरफ कुछ इतिहासकारों का मानना है कि यह युद्ध महेन्द्रवर्मन् एवं उसके परम्परागत शत्रु गंग शासक तथा उसके मित्र राष्ट्रों के संयुक्त मोर्चे के साथ हुआ होगा। संभवतः ऐसा प्रतीत होता है, महेन्द्रवर्मन् प्रथम की शक्ति चालुक्यों के प्रारम्भिक युद्धों में पूर्णतया क्षीण नहीं हो पाई थी तथा उसने पुनः अपनी शक्ति को संगठित करके पुल्लूर के युद्ध में महेन्द्रवर्मन् प्रथम द्वारा पुलकेशिन् द्वितीय को पराजित किया। जिसके बाद पुलकेशिन् द्वितीय ने चालुक्य सेना के अभियान को कावेरी नदी के उस पार चोलों, केरलों तथा पाण्ड्यों की ओर मोड़ दिया। अनन्तपुर जनपद से प्राप्त अभिलेखों में पुलकेशिन् द्वितीय द्वारा पल्लवों के विरुद्ध एक अन्य अभियान का उल्लेख मिलता है। इस युद्ध का कारण संभवतः वाण शासकों का जो चालुक्यों के सामंत थे, का पल्लव

से मिल जाना था। चालुक्य सेना ने पहले वाणों को पराजित कर पुलकेशिन् द्वितीय ने आगे बढ़कर काँची पर आक्रमण कर दिया, इस समय पल्लव वंश का शासक नरसिंहवर्मन् प्रथम था। कूरम अभिलेख से नरसिंहवर्मन् प्रथम ने परियाल, शूरमार तथा मणिमंगलम् आदि अनेक स्थानों पर, पुलकेशिन् द्वितीय को निर्णायक रूप से पराजित कर पल्लव राजवंश की कीर्ति को पुनर्स्थापित किया। नरसिंहवर्मन् प्रथम की सेना ने आगे बढ़कर चालुक्यों की राजधानी वातापि पर आक्रमण करके नगर को भारी नुकसान पहुँचाया तथा इस महान् विजयोपलब्धि पर नरसिंहवर्मन् प्रथम ने 'वातापिकोंड' की उपाधि धारण की। इस युद्ध में संभवतः पुलकेशिन् द्वितीय वीरगति को प्राप्त हो गया। अपने लगभग 32 वर्षीय दीर्घ शासनकाल में पुलकेशिन् द्वितीय ने अपने सामरिक अभियानों के माध्यम से अपने शासन–संगठन को मजबूत किया साथी ही विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण राजनयिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित किये। तबरी नामक एक मुस्लिम लेख के विवरणों से ज्ञात होता है कि पुलकेशिन् द्वितीय ने पारसीक सम्राट सुखरी द्वितीय के राजदरबार में हाथी तथा कई भारतीय बहुमूल्य उपहारों के साथ अपना एक दूतमण्डल भेजा। अजन्ता की एक भित्ति चित्र, जो कि पुलकेशिन् के काल का प्रतीत होता है से ऐसा प्रतीत होता है कि ईरानी सम्राट् ने भी प्रत्युत्तर में अपना दूत–मण्डल वातापि के चालुक्य राजदरबार में भेजा था। पुलकेशिन् द्वितीय अपने वैभव एवं विजयों के अनुरूप 'श्रीपृथ्वीवल्लभ', सत्याश्रय, वल्लभ परमेश्वर परमभागवत, भट्टारक तथा महाराजाधिराज आदि अनेक उपाधियाँ धारण की थीं।

बोध प्रश्न 1

1.पुलकेशिन् द्वितीय की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों की व्याख्या करें।

उत्तर.....

.....

.....

4.3.3 विक्रमादित्य द्वितीय (733 ई.से 745 ई)

विक्रमादित्य द्वितीय से पहले चालुक्य वंश में क्रमशः विक्रमादित्य प्रथम, विनयादित्य, विजयादित्य शासक बने, अतः अध्ययन की सुविधा के लिए पहले उपरोक्त राजाओं के बारे में जान लेना आवश्यक है। पुलकेशिन् द्वितीय पराजय तथा मृत्यु के बाद चालुक्य साम्राज्य में अव्यवस्था फैल गयी, जिसमे लाट प्रदेश के सामन्त शासक विजयराज, सेन्द्रक राजकुमार पृथ्वीवल्लभ निकुंभल्लशक्ति ने

भी अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। यहाँ तक की चालुक्य वंश के पुलकेशिन् के दो पुत्रों, आदित्यवर्मा तथा चन्द्रादित्य, ने स्वयं की स्वतंत्रता घोषित कर दी एवं आदित्यवर्मा ने स्वतंत्र रुप से महाराजाधिराज, परमे''वर तथा चन्द्रादित्य ने पृथ्वीवल्लभं तथा 'महाराज' की उपाधि धारण कर ली। पुलकेशिन् के एक शक्तिशाली पुत्र विक्रमादित्य प्रथम ने अपने नाना गंगनेरश दुर्विनीत तथा छोटे भाई जयसिंहवर्मन् की सहायता से सबसे पहले अपने भाइयो दो भाइयों आदित्यवर्मा तथा चन्द्रादित्य, उसके बाद स्वतंत्र हुए सामंतो एवं पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन् को हराकर इस अव्यवस्था का अंत 655 ई. में किया साथ ही अपने पैतृक राज्य में और व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। उसकी इसम सफ़लताओ का उल्लेख कर्नूल लेख में मिलता है, जिसके अनुसार उसने पुनः अपने वंशलक्ष्मी को सुरक्षित कर तथा 'परमे''वर' की उपाधि ग्रहण की। इसके लेखों के आधार पर प्राप्त स्थानों से स्पष्ट हो जाता है कि उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने नेल्लोर, बेलारी, अनन्तपुर तथा कडप्पा जिलों के ऊपर, जो अराजकता के दौर में चालुक्य साम्राज्य से बाहर निकल गये थे, दुबारा अपना अधिकार सुदृढ़ कर लिया।

चालुक्य शासक विक्रमादित्य ने अपनी घरेलू स्थिति मजबूत करने के बाद पल्लव राज्य पर आक्रमण किया। इस संघर्ष का विवरण कई लेखों में मिलता है। नौसारी ताम्रपत्रों, गड़वाल ताम्रपत्रों में कहा गया है कि विक्रमादित्य ने अपने पराक्रम से पल्लव राजवंश को जीत लिया। पल्लवराज्य पर विजय करता हुआ वह कांची के समीप जा पहुँचा। गड़वाल लेख से पता चलता है कि उसने चोलों के साथ–साथ पाण्ड्य, केरल, कलभ आदि पर भी विजय प्राप्त की। ऐसा प्रतीत होता है कि कांची के ऊपर चालुक्यों का अधिकार कम समय के लिए ही रहा होगा क्योंकि पल्लव लेख से ज्ञात होता है कि परमे''वरवर्मन् की सेनाओं ने विक्रमादित्य को पराजित कर उसकी राजधानी को लूट लिया था। संभवतः विक्रमादित्य ने प्रारम्भिक युद्धों में परमेश्वरवर्मन् को पराजित किया। परमे''वरवर्मन् ने पुनः अपनी शक्ति को संकेन्दित करके अपने सेनापति शिरुतोण्डर की सहायता से दो मोर्चो पर एक साथ आक्रमण कर दिया जिसमें विक्रमादित्य पूरी तरह पराजित हुआ। कूरम दानपत्र एवं 'पेरियपुराण' में पल्लव सेना द्वारा वातापी पर किये गये आक्रमण तथा उसकी लूट का विवरण मिलता है। इस पल्लव चालुक्य संघर्ष से ऐसा निष्कर्ष निकला जा सकता है कि अंततः इससे किसी भी पक्ष को कोई लाभ नहीं हुआ, यद्यपि इसके बाद लगभग पचास वर्षों तक पल्लव–चालुक्य संघर्ष रुका रहा।

विक्रमादित्य के पश्चात् उसका पुत्र विनयादित्य शासक बना, ऐसा प्रतीत होता

है कि उसके राज्य में शान्ति एवं समृद्धि थी। इसके कई अभिलेख मिले है जिससे यह पता चलता है कि उसने पल्लव, कलभ्र, केरल, हैहय, मालव, चोल, पाण्ड्य आदि जातियों को पराजित किया गया था। विनयादित्य के पुत्र विजयादित्य के रायगढ़ ताम्रलेख में उसके उत्तरी अभियानों का विवरण परन्तु इसमें जिन विजयों का उल्लेख मिलता है वे बहुत ज्यादा अतिरंजित प्रतीत होती हैं।

विजयादित्य अपने पिता विनयादित्य के बाद राजा बना। रायगढ़ लेख प्राप्त जानकारी के अनुसार अपने पिता के साथ उसने कई युद्ध भाग ले चुका था। रायगढ़ लेख में कहा गया है तथा कि उसने अपने अनेक शत्रुओं को युद्ध में पराजित भी किया था। विजयादित्य के वीरता एवं साहस के बारे में कई कथानक प्राप्त होते है, जिससे यह बात स्पष्ट है कि विजयादित्य का दीर्घकालीन शासन शान्तिपूर्ण तथा समृद्धिशाली रहा होगा। उसने भी सत्याश्रय, श्रीपृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमे''वर, भट्टारक आदि उपाधियाँ धारण की थीं। इसने भी अपने पिता की भांति अपने पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय को अपने शासन के अंतर्गत कई प्रशासनिक दायित्व प्रदान किये। विजयादित्य के 35वें राज्य वर्ष का उल्चल लेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने पुत्र विक्रमादित्य को कांची के पल्लवों के विरुद्ध अभियान पर भेजा था जिसमे उसने परमे''वरवर्मा द्वितीय को पराजित कर उसे कर देने के लिये मजबूर किया था। एक कुशल प्रशासक होने के साथ ही साथ वह एक महान् निर्माता भी था तथा उसी के समय में पट्टडकल के विशाल शिव मन्दिर का निर्माण करवाया गया था।

विजयादित्य का पुत्र विक्रमादित्य द्वितीय उसके वाद 733 ई० चालुक्य वंश का राजा बना। इसने वल्लभ दुर्जय, महाराजाधिराज श्रीपृथ्वीवल्लभ, परमे''वर जैसी महान् उपाधियां ग्रहण की थीं। उसके शासन में सबसे महवपूर्ण घटना में अरबों द्वारा दक्षिण पर आक्रमण थी। नौसारी दानपत्र जिसे विक्रमादित्य के सामन्त पुलकेशिन् ने उत्कीर्ण कराया था, के अनुसार सैन्धव, कच्चेल, सौराष्ट्र, चावोटक, मौर्य तथा गुर्जर राजाओं को ध्वस्त करने वाले अरबों ने दक्षिण विजय की इच्छा से नौसारी पर अधिकार करने का प्रयास किया किन्तु पुलकेशिन् ने उन्हें पराजित कर गुर्जर देश से भगा दिया। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर विक्रमादित्य ने उसे 'अवनिजनाश्रय' की उपाधि से प्रदान की।

विक्रमादित्य द्वितीय का दूसरा अभियान काँची के पल्लवों के विरुद्ध किया इससे पहले भी वह अपने पिता के काल में भी काँची पर आक्रमण कर चुका था। नरवण, केन्दूर तथा पट्टडकल के लेखों में विक्रमादित्य के कांची पर आक्रमण

करने का वर्णन प्राप्त होता है। इस युद्ध में पल्लव राजा नन्दिपोतवर्मा पराजित हुआ और भाग गया इस युद्ध की खास बात यह थी कि विक्रमादित्य द्वितीय ने कांची को कोई क्षति नहीं पहुँचायी, बल्कि बड़े पैमाने पर दुखियों एवं ब्राह्मणों को दान दिया। राजसिंहेश्वर मन्दिर से चालुक्य नरेश विक्रमादित्य का एक अभिलेख का वर्णन मिलता है कि उसने कांची पर विजय प्राप्त कर बिना किसी तरह नुकसान किये पल्लव नरेश नरसिंहवर्मा प्रथम द्वारा की गयी वातापी विजय का बदला लिया एवं नरसिंहवर्मा की ही तरह विक्रमादित्य ने भी 'कांची कोंड' की उपाधि धारण की। विक्रमादित्य ने पल्लव राजा को पराजित करने के बाद चोल, केरल, कलभ आदि को भी पराजित किया तथा जीत के उपलक्ष्य में एक विजय स्तम्भ स्थापित किया। विक्रमादित्य द्वितीय के पुत्र कीर्तिवर्मा द्वितीय ने शासन काल के अन्तिम वर्षों में पल्लवों के विरुद्ध एक दूसरा सैनिक अभियान किया। जिसमे अंततः पल्लव नरेश ने हारकर आत्मसमर्पण कर दिया तथा कीर्तिवर्मा अपने साथ लूट का बहुत अधिक धन, हाथी, रत्न आदि लेकर अपनी राजधानी वापस लौट आया। राजनीतिक विजयों एवं विस्तारवादी नीति के अतिरिक्त विक्रमादित्य का काल चालुक्य वंश के सर्वांगीण उन्नति का भी काल था। उसकी दो महारानियां लोकमहादेवी तथा त्रैलोक्य महादेवी जो परस्पर सगी बहनें तथा कलचुरि वंश की कन्यायें थीं। दोनों ने ही बड़े पैमाने पर मन्दिरों का निर्माण करवाया। लोकमहादेवी ने 'विरुपाक्ष' नामक विशाल पाषाण मन्दिर का निर्माण करवाया था। इसी प्रकार त्रैलोक्य महादेवी ने 'त्रैलोकेश्वर' नाम से विशाल पाषाण मन्दिर बनवाया था।

बोध प्रश्न 2

विक्रमादित्य द्वितीय की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों की व्याख्या करें।

उत्तर .....

.....

.....

.....

बोध प्रश्न 3.

पल्लव–चालुक्य संघर्ष की व्याख्या करें।

उत्तर .....

4.3.4 परवर्ती शासक एवं पतन

इस वंश का अंतिम शासक विक्रमादित्य का पुत्र और उत्तराधिकारी कीर्त्तिवर्मन् द्वितीय था। इसने अपने पिता के राज्यकाल पल्लवों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की थी। जिससे परिणामस्वरूप प्रसन्न होकर विक्रमादित्य ने उसे 'युवराज' बनाया था। किन्तु कालांतर में इसका प्रभाव कम होने लगा साथ ही मान्यखेट के राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग के नेतृत्व में शक्तिशाली होने लगे। राष्ट्रकूट शासक दन्तिदुर्ग ने पल्लव नरेश नन्दिवर्मा के साथ उसने अपनी कन्या का विवाह कर पल्लवों के साथ मजबूत राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए जिससे कीर्त्तिवर्मा पूरी तरह से अलग पड़ गया एवं इसका लाभ उठाकर कीर्त्तिवर्मा पर आक्रमण कर दिया उसने मालव, कोशल, श्रीशैल तथा कलिंग के राजाओं को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार किया। यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि इस युद्ध में कीर्त्तिवर्मा पराजित तो हुआ तथा उससे, उत्तरी महाराष्ट्र, गुजरात तथा आस–पास के कुछ प्रदेशों को राष्ट्रकूटों ने छीन भी लिया। कीर्त्तिवर्मा ने कुछ समय बाद पुनः शक्ति जुटाकर राष्ट्रकूटों पर आक्रमण कर राज्य वापस लेने का प्रयास किया किन्तु कृष्ण प्रथम ने उसे पराजित कर दिया। संभवतः इस युद्ध में कीर्त्तिवर्मा युद्ध करते हुए मारा गया तथा चालुक्य राज्य पर राष्ट्रकूटों का अधिकार हो गया। इस प्रकार 757 ई. कीर्त्तिवर्मा के साथ ही चालुक्य वंश का भी पतन हो गया।

4.4 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

उत्तर– उपभाग देखें 4.3.2

बोध प्रश्न 2

उत्तर– उपभाग देखें 4.3.3

बोध प्रश्न 3

उत्तर– उपभाग देखें 4.3.2 एवं 4.3.3

4.5 सारांश

वातापी के चालुक्यों के शासन में लगभग दो शताब्दियों तक पश्चिमी दक्षिणापथ में जो स्थायित्व आया उसका परिणाम यह हुआ कि इस लम्बी अवधि में चालुक्यों ने साहित्य, कला तथा धर्म आदि सभी के विकास में बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान किया। चालुक्य राजाओं ने साम्राज्य विस्तार तक स्वयं को सीमित न रखते हुए, जिस परम्परा की शुरुआत की उसका उत्कर्ष राष्ट्रकूट

काल में दिखाई देता है।

4.6 शब्दावली

वातापी– कर्नाटक राज्य के बीजापुर जिले में स्थित बादामी।

अलूप– दक्षिण कनारा जिला कर्नाटक।

मो–हा–ल–च दृ महाराष्ट्र।

पिष्टपुर – वर्तमान पीठापुरम।

कोणाल झील – कोल्लेरू झील।

4.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, इलाहाबाद शारदा पुस्तक भवन।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन
5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

इकाई–5 कल्याणी के चालुक्य–स्रोत–तैलप द्वितीय, सोमेश्वर प्रथम, विक्रमादित्य षष्ठ

इकाई की रुपरेखा

5.0 प्रस्तावना

5.1. उद्देश्य

5.2 कल्याणी के चालुक्य के इतिहास की रुपरेखा

5.2.1 तैलप द्वितीय

5.2.2 सोमेश्वर प्रथम

5.2.3 विक्रमादित्य षष्ठ

5.2.4 परवर्ती शासक एवं पतन

5.3 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.4 सारांश

5.5 शब्दावली

5.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.0 प्रस्तावना

राष्ट्रकूट राजवंश का अंतिम शासक कर्क द्वितीय अपनी अकुशल नीतियों एवं अयोग्यता के कारण जनता के मध्य अलोकप्रिय था। इसी समय उसके मुख्य प्रतिद्वंदी मालवा के परमार नरेशों के लगातार आक्रमणों से राष्ट्रकूट राजवंश कमजोर हो चुका था। उसकी इसी अक्षमता का लाभ उसके शक्तिशाली सामन्त तैलप द्वितीय ने उठाया जो एक कुशल सेनानायक था, साथ ही प्रशासनिक कार्यो में भी अनुभवी था। राष्ट्रकूट, रठ्ठराज एवं शीलाहार अपराजित के लेखों एवं 'विक्रमांकदेव चरित' में भी इस बात पुष्टि होती है कि तैलप–द्वितीय ने अपने स्वामी कर्क द्वितीय को हराकर उसके शासन सत्ता पर अधिकार कर कल्याणी में चालुक्य राजवंश की नींव रखीं। संभवतः यह घटना 973–74 ई० के आस–पास घटित हुई होगी।

प्राचीन भारत के अन्य राजवंशो कि ही भांति कल्याणी के चालुक्य राजवंश की

उत्पत्ति को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है, डी० आर० भण्डारकर तथा जे० एफ० फ्लीट ने इनकी उपाधियों एवं गोत्रों में भिन्नता के कारण वातापि के चालुक्य नरेशों से पृथक् राजवंश का माना है। दूसरी तरफ कन्नड़ महाकाव्य गदायुद्ध, विल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित तथा वेंगी तथा कल्याणी के कुछ अभिलेखों में इन्हें वातापि के चालुक्यों का वंशज तथा कौथेम–अभिलेख के अनुसार इनका मूल स्थान अयोध्या कहा गया है। इसके साथ ही कल्याणी के चालुक्य शासकों के अभिलेखों में वातापि नरेश कीर्तिवर्मन् द्वितीय तथा कल्याणी के चालुक्य वंश के संस्थापक तैलप द्वितीय के मध्य शासन करने वाले सात शासकों के नाम मिलते हैं, जिनका समय लगभग 757 ई० से 774 ई0 के मध्य रहा। ऐसा संभव है कि प्रारंभ में ये सभी वातापि के चालुक्य–प्रशासन में सामन्त के रूप में अपनी सेवायें दिए होंगे। अतः इसकी संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि इन दोनों राजवंश में किसी न किसी रूप में सम्बन्ध रहा होगा।

5.1.उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य कल्याणी के चालुक्य वंश के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1.कल्याणी के चालुक्य वंश के प्रारंभिक इतिहास के बारे में।

2.कल्याणी के चालुक्य वंश के प्रारंभिक शासकों के सन्दर्भ में यथा तलैप प्रथम, सोमेश्वर प्रथम, विक्रमादित्य षष्ठ एवं उनकी राजनीतिक उपलब्धियों के विषय में।

3.कल्याणी के चालुक्य वंश के शक्तिशाली शासकों की यथा विजय एवं साम्राज्य विस्तार के बारे में।

4.कल्याणी के चालुक्य वंश के शासन के अंतर्गत उनकी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियाँ।

5.2.1 तैलप द्वितीय (957–997 ई०)

कल्याणी के चालुक्य शासकों के अभिलेखों में इस वंश के संस्थापक के रूप में वातापि के चालुक्य नरेश विजयादित्य के पुत्र एवं विक्रमादित्य द्वितीय के भाई भीम को माना गया है। साथ ही भीम के बाद क्रमशः कीर्तिवर्मन् तृतीय, तैलप प्रथम, विक्रमादित्य तृतीय, भीम द्वितीय, अय्यण प्रथम तथा विक्रमादित्य चतुर्थ ने शासन किया। यद्यपि इसमें से अय्यण प्रथम एवं विक्रमादित्य चतुर्थ के

अतिरिक्त शेष शासकों के विषय में ऐतिहासिक सूचनाओं का अभाव है। ऐसा संभव है की तैलप द्वितीय से पहले इनकी स्थिति मात्र सामंत की रही होगी। संभवतः इनके पश्चात, तैलप द्वितीय ने मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजवंश को परास्त कर सर्वप्रथम कल्याणी के चालुक्य राजवंश के रूप में स्वतन्त्र राजसत्ता स्थापित की थी।

973–74 ई० में तैलप ने अपने शासन सत्ता को मजबूत करने के बाद उसने सीमाओं के विस्तार करने के क्रम में उसका सबसे पहला अवरोधक गंगनरेश पांचलदेव था, जिसने अपने राज्य की सीमा का विस्तार कृष्णा नदी तक विस्तृत कर लिया था। तैलप द्वितीय का गंगनरेश पांचलदेव से युद्ध कई बार हुआ था, जिसमे प्रारम्भिक स्तर पर सफलता पांचलदेव को मिली। सम्भवतः 977 ई० वेल्लारी के सामन्त शासक गंगभूतिदेव की सहायता से तैलप द्वितीय ने गंगनरेश पांचलदेव को पराजित किया एवं युद्धस्थल पर ही पांचलदेव मारा गया। इस सफलता के बाद तैलप द्वितीय की सीमा उत्तरी कर्नाटक के विस्तृत भू–भागों तक फैल गई।

तैलप द्वितीय की विजयों के संदर्भ मे नीलकण्ठ शास्त्री का मानना है कि उसने लगभग 108 लड़ाइयाँ लड़ी तथा 88 दुर्गीय नगरों पर अपना अधिकार स्थापित किया। तैलप द्वितीय ने 977 ई० के बाद कर्क द्वितीय के सहायक रणस्तम्भ पर विजय प्राप्त की, इसके बाद उसने 980 ई० के लगभग उसने दक्षिणी कोकण प्रदेश पर आक्रमण चोल शासक उत्तम चोल को पराजित किया एवं इसी क्रम मे शीलाहार शासक अवसर तृतीय अथवा रट्टराज को पराजित कर दिया।

तैलप द्वितीय के साम्राज्य विस्तार के क्रम मे उसका सबसे प्रबल प्रतिरोध मालवा के परमार शासकों ने किया। मेरुतुंग द्वारा लिखित 'प्रबन्धचिन्तामणि' मे उल्लेख मिलता है कि मुंज ने तैलप द्वितीय को छः बार पराजित किया, किन्तु उसकी शक्ति को पूरी तरह से ख़त्म नहीं कर सका। मुंज ने तैलप द्वितीय को पूरी तरह से पराजित करने के लिए गोदावरी नदी को पार कर तैलप के राज्य पर आक्रमण किया, यद्यपि मुंज के महामंत्री रुद्रादित्य ने उसे गोदावरी पर आक्रमण करने से मना किया। तैलप द्वितीय ने भौगोलिक स्थिति का लाभ लेते हुए मुंज की सेना को परास्त किया एवं उसे बन्दी बना लिया। मेरुतुंग ने राजा मुंज के बन्दीगृह मे रहने एवं उसकी तैलप द्वितीय की बहन मृणालवती से प्रेम, जिसने राजा मुंज कि भागने की योजना अपने भाई तैलप द्वितीय को बता दिया जिसके कारण तैलप ने उसे दंड देने के लिए मुंज को रस्सी मे बांधकर उसे राजधानी में दर–दर भीख मँगवाने तथा अन्ततः उसका सिर काटकर अपने राजप्रासाद में टाँगने आदि का विस्तार से वर्णन किया है। यद्यपि महाकवि मेरुतुंग का वर्णन

बहुत ही काव्यात्मक है, किन्तु इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि तैलप ने राजा मुंज की हत्या करवा दी होगी जिसकी पुष्टि उज्जैन–अभिलेख, केथोम–ताम्रपत्र–अभिलेखों तथा 'आइने अकबरी' से भी प्राप्त होता है। अन्य उल्लेखनीय विजयों में उण–शासक भिल्लम द्वितीय तथा लाट राज्य की पराजय है। लाट को जीत कर तैलप द्वितीय ने सेनापति वाडप को वहाँ का प्रान्तपति नियुक्त किया। वाडप ने बड़ी ही बहादुरी से अन्हिलवाडवंश के संस्थापक शासक मूलराज प्रथम को पराजित किया, यद्यपि परवर्ती चाहमान शासक विग्रहराज ने लाट राज्य पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन कर लिया।

तैलप द्वितीय ने अपने युद्धो के माध्यम से एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की, एवं उसपर अपने प्रभुत्व को स्थायी रखने के लिए उसने अपने अधीन कई सामंत को नियुक्त किया जिसमे बनवासी तथा सान्तलिगं का शासक ब्रह्मरस, कादम्बलिगं राज्य का मूलगुंड सिन्द जातरस, कुण्डि का रट्ठशासक कार्तवीर्य प्रथम तथा बेलगाँव के सौदन्ति रट्ठ विशेष रूप से महत्वपूर्ण थे।

गंग अभिलेख के अनुसार तैलप द्वितीय ने चालुक्य वंश की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करके 25 वर्ष तक राज्य किया। तैलप द्वितीय का साम्राज्य उत्तर में गोदावरी नर्मदा तक दक्षिण में बेल्लारी तक तथा पश्चिम में दक्षिणी कोंकण प्रदेश तक फैला हुआ था। अपने विजयों के क्रम मे उसने कई उपाधियाँ ग्रहण की, जिसमे भुवनैकमल्ल, महासामन्ताधिपति, आहवमल्ल, महाराजाधिराज, परमे''वर, परमभट्टारक, चालुक्याभरण, सत्याश्रयकुलतिलक तथा समस्तभुवनाश्रय आदि उपाधियाँ धारण की।

बोध प्रश्न 1.

कल्याणी के चालुक्य वंश के प्रारम्भिक इतिहास कर वर्णन करते हुए, तैलप द्वितीय कि उपलब्धियों कि व्याख्या करें ।

.....

.....

.....

.....

5.2.2 सोमेश्वर प्रथम (1043–1068 ई०)

तैलप द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र सत्याश्रय (997द्1008 ई०) शासक बना एवं उसके पश्चात उसके अनुज दशवर्मन् का पुत्र विक्रमादित्य पंचम् (1008– 1015 ई०), अय्यण द्वितीय एवं उसके बाद जयसिंह द्वितीय 1015 ई० मे

शासक बना जिसने लगभग 1042 ई० तक शासन किया। जयसिंह द्वितीय के बाद उसका पुत्र सोमे''वर प्रथम 1042 ई0 में राजा बना, उसने चालुक्य वंश की साख को पुनः स्थापित किया। सोमे''वर प्रथम की गिनती चालुक्य वंश के प्रभावशाली शासकों मे की जाती है इसने अपनी राजधानी मान्यखेत से कल्याणी स्थानान्तरित कर वहाँ अनेक भव्य भवन एवं मंदिरो का निर्माण कराया एवं कल्याणी को एक कलात्मक केंद्र के रूप मे पहचान दिलायी। इसी कारणवश बिल्हण ने लिखा कि सोमे''वर प्रथम ने नगर को इतना सजाया कि वह संसार के सभी नगरों में श्रेष्ठ बन गया। कलात्मक उपलब्धियों के अलावा वह एक कुशल सेनानायक भी था, उसकी विजयों का विस्तार से विवरण नान्देर (हैदराबाद) के लेख में मिलता है। यद्यपि लेख मे उसकी विजयों का बड़ा ही कलात्मक विवरण है जिसे पूरी तरह से सही नहीं माना जा सकता है, जैसे इसके अनुसार सोमे''वर ने मगध, कलिंग और अंग के राजाओं को युद्ध मे पराजित कर उनकी हत्या कर दी। उसने कोंकण के राजाओं पर आक्रमण कर उन्हे अपने पैरों पर गिरने के लिये बाध्य कर दिया, उसने मालवा के राजा को युद्ध मे परास्त कर उसे अपनी ही राजधानी धारा में याचना करने के लिए विवश कर दिया, उसने वेंगी, कलिंग और चोल शासक को भी युद्ध में परास्त किया।

सोमे''वर प्रथम, के अपने शासनकाल के अंतर्गत लड़े गए युद्धों मे पहले से चली आ रही मालवा के परमार वंश के साथ शत्रुता के परिणामस्वरूप होने वाला युद्ध विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। सोमे''वर प्रथम के अभिलेखों से उसके द्वारा भोज परमार पर आक्रमण करने का उल्लेख मिलता है। मेरुतुंग द्वारा रचित 'प्रबन्ध चिन्तामणि' एवं 'भोज चरित्र' मे भी ऐसा विवरण प्राप्त होता है यद्यपि उसका विवरण काल्पनिक ज्यादा प्रतीत होता है। सम्भवतः भोज को त्रिगुट संघ जिसमे कलचुरि नरेश गांगेयदेव, चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम एवं स्वयं परमार नरेश भोज सम्मिलित था के साथ मिलकर भोज ने चालुक्यों के विरुद्ध कुछ युद्धों में प्रारम्भिक सफलता अवश्य प्राप्त की होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिगुट शक्तियों के सम्मिलित प्रयास से तत्कालीन चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय के विरुद्ध कुछ सफलताएँ प्राप्त हुई, किन्तु जयसिंह द्वितीय ने बड़े ही योजनाबद्ध तरीके से तीनों राज्यों के नृपतियों को अलग–अलग युद्धों में पराजित कर अपने साम्राज्य को सुरक्षित कर लिया। वेलगांव–अभिलेख से भी भोज के पराजय तथा जयसिंह द्वितीय की सफलता का संदर्भ प्राप्त होता है।

जयसिंह के पश्चात् उसके पुत्र सोमेश्वर प्रथम ने परमार राज्य पर आक्रमण कर राजधानी 'धारा' पर अधिकार कर लिया। जिसके कारणवश भोज को अपनी

राजधानी छोड़कर जाना पड़ा। कालांतर मे कल्याणी के सोमे''वर प्रथम, गुजरात के चालुक्य नरेश भीम प्रथम तथा कलचुरि चेदिवंशी शासक लक्ष्मीकर्ण ने एक सामरिक संघ बनाकर मालवा राज्य पर आक्रमण कर दिया। संयोगवश इन आक्रमणों के दौरान अस्वस्थ महाराज भोज की मृत्य हो गयी। इसी क्रम मे अवसर का लाभ लेते हुये, कलचुरिनरेश लक्ष्मीकर्ण ने मालवा की राजधानी धारा नगरी पर अधिकार कर लिया।

ऐसा प्रतीत होता है, युद्ध मे विजयी होने के बाद मालवा राज्य के बँटवारे को लेकर इस सामरिक संघ मे तनाव पैदा हो गया था। संभवतः चालुक्य भीम प्रथम एवं लक्ष्मकर्ण ने सोमे''वर प्रथम के साथ वि''वासघात किया। इसी बीच मालवा नरेश भोज के पुत्र जयसिंह ने सोमे''वर प्रथम से सहयता के लिए प्रार्थना की, जिसके परिणामस्वरूप सोमे''वरप्रथम ने जयसिंह को मालवा की सत्ता पर स्थापित करने के लिए अपने पराक्रमी पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ को दायित्व सौंपा। विक्रमादित्य षष्ठ ने सफलतापूर्वक इस सैन्य अभियान में चेदिनरेश लक्ष्मीकर्ण को पराजित कर परमार राजकुमार जयसिंह को सत्ता प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त की। जिसके बाद से जयसिंह, सोमे''वरप्रथम एवं विक्रमादित्य षष्ठ का सहयोगी बन गया। कल्याणी नरेश विक्रमादित्य ने जब वेंगी के चालुक्यों के विरुद्ध आक्रमण किया तो उस समय जयसिंह अपनी सेना के साथ युद्ध मे विक्रमादित्य का साथ दिया एवं विजय दिलाने में सहयोग प्रदान किया।

सोमे''वर प्रथम के शासनकाल का सबसे महत्वपूर्ण एवं दीर्घकालीन संघर्ष उसका चोल वंश के साथ हुआ। पश्चिमी चालुक्यों एवं चोलों के बीच शत्रुता का मुख्य कारण वेंगी राज्य पर अपने प्रभाव की स्थापना थी। वस्तुतः1022 ई० में वेंगी के सिंहासन पर उत्तराधिकार के लिए राजराज के सौतेले भाई विजयादित्य ने वेंगी के मध्य संघर्ष ने दोनों ही शक्तियों को एक अवसर प्रदान किया। पश्चिमी चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय ने एवं उसके बाद सोमे''वर प्रथम ने भी विजयादित्य का समर्थन किया। दूसरी तरफ चोल नरेश वेंगी के सिंहासन पर विराजमान राजराज का प्रबल समर्थक था। 1031 ई० चालुक्य नरेश जयसिंह द्वितीय कि सहायता से विजयादित्य ने राजराज को अपदस्थ करके वेंगी पर अधिकार कर लिया। परन्तु, यह विजय स्थायी नहीं रही मात्र, 4 वर्ष बाद राजराज ने चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम की सहायता से विजयादित्य को पराजित करके वेंगी पर अधिकार कर लिया। विजयादित्य ने वेंगी को छोड़कर चालुक्य दरबार में शरण ले ली।

चोल नरेश राजेन्द्र प्रथम ने चालुक्य नरेश सोमेश्वर प्रथम के प्रभाव को वेंगी से समाप्त करने के लिए अपने पुत्र राजाधिराज को भेजा। राजाधिराज एवं सोमेश्वर

प्रथम के बीच पहला युद्ध कालिदिडि क्षेत्र में हुआ। यह युद्ध अनिर्णीत रहा, तथा किसी पक्ष को सफलता नहीं मिली। इसके पश्चात दूसरा एवं निर्णायक युद्ध धान्यकटक में हुआ, जिसमे चोल विजयी रहे, जिसके फलस्वरूप चालुक्य–युवराज विक्रमादित्य षष्ठ तथा वेंगी के विजयादित्य दोनों को युद्ध–स्थल छोड़कर भागना पड़ा एवं वेंगी पर चोलों ने अधिकार कर लिया। राजाधिराज ने चालूक्यों के विरुद्ध अपने अभियान को आगे बढ़ाने का दायित्व अपने भाई राजेंद्र द्वितीय को सौंपा जिसने चालुक्यों कि शक्ति को पूरी तरह से खत्म करने के लिए कम्पिल पर आक्रमण करके वहाँ के राजप्रासादों को ध्वस्त कर दिया। साथ ही विक्रमादित्य षष्ठ के पराक्रमी सेनानायकों की हत्या कर, चालुक्य–सेना से अश्व, ऊँट, हाथी एवं युद्धास्त्र छीन लिए। सोमेश्वर प्रथम ने ऐसी परिस्थिति मे राजेन्द्र द्वितीय से संधि का प्रस्ताव लेकर अपना एकदूत भेजा। किन्तु राजेन्द्र द्वितीय चोल ने संधि का प्रस्ताव ठुकरा दिया, अपितु दूत का अपमान करते हुये, दूत के शरीर पर 'आहवमल्ल घृणित एवं कायर है' लिखवाकर वापस भेज दिया। इसके पश्चात् आगे बढ़कर चोलों ने कृष्णा नदी के तट पर स्थित पुंडर नगरी को ध्वस्त कर दिया एवं उसके नजदीक स्थित मुणिन्दिघ नमक नगर को जलाकर कर ध्वस्त दिया। अपनी विजय के उपलक्ष्य मे चोलों ने येतगिरि स्थान पर 'विजयस्तम्भ'निर्मित कराकर उस पर अपना राजचिह्न 'सिंह' अंकित कराया। चोलों ने अपने विजय अभियान के अगले क्रम मे चालुक्य राजधानी कल्याणी को जीत लिया। चालुक्य राजधानी पर विजय के उपलक्ष्य मे राजाधिराज ने अपना वीराभिषेक कराकर 'विजयराजेन्द्र' की उपाधि धारण की। वीर राजेन्द्र द्वारा तंजोर के दारासुरम् मन्दिर के प्रवेश–द्वार पर रखी हुई प्रतिमा पर अंकित लेख से उसके द्वारा राजधानी कल्याणी पर विजय किये जाने की सूचना प्राप्त होती है।

सोमे''वर को चोलों से अपने पराभव का बदला लेने का एक और अवसर तब मिला जब वेंगी में राजराज की मृत्यु हो गयी। सोमे''वर, ने विजयादित्य सप्तम् के पुत्र शक्तिवर्मा द्वितीय को वेंगी का राजा बनाया तथा सेनापति चामुण्डराज के नेतृत्व में एक सेना उसकी सहायता के लिए रखी। इसके साथ ही सोमेश्वर ने दूसरी तरफ से अपने पुत्र विक्रमादित्य तथा मालवा के राजा जयसिंह के नेतृत्व में चोलों के विरुद्ध एक सेना गंगवाड़ी पर आक्रमण करने को भेजी। राजेन्द्र द्वितीय ने दोनों मोर्चे पर एक साथ युद्ध के लिए अपने पुत्रों राजमहेन्द्र तथा वीर राजेन्द्र को भेजा। इस युद्ध में चामुण्डराज तथा शक्तिवर्मा मारे गये। गंगवाडि में भी वीर राजेन्द्र ने बड़ी ही वीरता से चालुक्य आक्रमणकारियों को, तुंग और भद्रा नदियों के संगम पर स्थित कुडलसंगमम् के युद्ध पराजित किया। सोमेश्वर ने

कोप्पम् युद्ध में जिस अपमान का बदला लेने के लिये यह अभियान प्रारम्भ किया था, उसमें उसे सफलता नहीं मिली। परंतु, सोमेश्वर ने अपनी शक्ति को संगठित करके एक बार पुनः पूर्व तथा पश्चिम दोनों ही दिशाओं से आक्रमण करने का निर्णय लिया। पूर्व में सोमे''वर ने अपने सामन्त धारा के परमारवंशी जननाथ के नेतृत्व में एवं पश्चिम की ओर से विजयादित्य को भेजा। इसी बीच राजेंद्र द्वितीय का उत्तराधिकारी वीर राजेंद्र चोल राजा बना। वीर राजेन्द्र ने एक साथ दोनों ही मोर्चों पर सफलता पाई। एक बार पुनः वेंगी में चालुक्य सेनायें पराजित हुई तथा पश्चिम में तुंगभद्रा नदी के तट पर चोलों ने सोमे''वर की सेना को पराजित कर चालुक्य सेना को बहुत नुकसान पहुंचाया। अपनी तमाम असफलताओं के बाद भी सोमे''वर ने पुनः अपनी शक्ति को संगठित करके सोमेश्वर ने वीर राजेन्द्र के पास अपना संदेशवाहक भिजवाकर कुडलसंगमम् में पुनः युद्ध करने की चुनौती दी। चोल सम्राट, निश्चित युद्ध स्थल पर पहुँच गया लेकिन स्वयं सोमे''वर इस युद्ध में नहीं पहुंचा जबकि उसकी सेनायें युद्ध स्थल पर पहुँच गयी। एक निश्चित समय तक प्रतीक्षा करने के बाद वीर राजेंद्र ने चालुक्य सेना पर आक्रमण कर उनकी सेना को पराजित कर, तुंगभद्रा नदी के तट पर विजयस्तंभ स्थापित किया। इसके बाद उसने अपनी सेना के साथ वेंगी की ओर प्रस्थान किया। यहाँ विजयादित्य एवं राजराज चालुक्यों की ओर से तथा चोलों की ओर से युवराज राजेन्द्र (कुलोत्तुंग प्रथम) युद्ध के लिए उपस्थित हुए। चोलों तथा चालुक्यों के बीच अन्तिम संघर्ष 1067–68 ई० कृष्णा नदी के किनारे बैजवाड़ा में हुआ। इस युद्ध में चालुक्यों की पराजय हुई, तथा वीर राजेन्द्र ने अपने इस विजय के उपलक्ष्य मे अपने हाथियों को गोदावरी नदी का जल पिलाया तथा तत्पश्चात् कलिगंम को पार करते हुए अपनी सेना को चक्रकूट तक भेजा। वेंगी पर पूर्ण अधिकार कर उसने विजयादित्य को सौंपने के बाद वह अपनी राजधानी वापस लौट आया। इन असफलताओं के मध्य लम्बी बीमारी तथा लगातार होने वाली पराजय से संभवतः ऊबकर सोमेश्वर प्रथम ने 1068 ई० में तुंगभद्रा नदी में डूबकर आत्महत्या कर ली।

सोमेश्वर प्रथम ने अपने लगभग 26 वर्षों में अनेक राज्यों से युद्ध किया तथा एक विस्तृत साम्राज्य कि स्थापना की। चालुक्य अभिलेखों में विशेषकर नांदेर लेख से उसकी विजयों के संदर्भ मे विस्तार से उल्लेख मिलता है, जैसे कि उसे मगध, वंग, कन्नौज, पांचाल, खस, कुरु, आभीर एवं नेपाल आदि प्रदेशों का विजेता बताया गया है। यद्यपि अभिलेखों मे वर्णित इन विजयों को पूरी तरह से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है, संभवतः इसका कुछ वर्णन अतिरंजनापूर्ण है। सोमे''वर प्रथम ने बड़ी ही कूटनीतिज्ञ एवं साहस से मालवा, गुर्जर राज्यों एवं

वेंगी राज्य पर अधिकांश समय तक अपना प्रभाव बनाए रखा। यद्यपि, चोलों के विरुद्ध दीर्घकालीन युद्धों मे उसे सफलता नहीं मिली, किन्तु उसने अपने क्रमिक अभियानों के द्वारा चोलों को प्रखर विरोध किया।

सोमे''वर प्रथम एक महान विजेता और साम्राज्य निर्माता होने के साथ ही कला और साहित्य का मर्मज्ञ था। शांतिकाल में उसने कला एवं साहित्य के विकास को प्रश्रय दिया, उसने राजधानी कल्याणी में कई भव्य प्रासादों का निर्माण कराया तथा उसे सुरम्य नगरी बना दिया। अपनी विजयों एवं उपलब्धियों के क्रम मे उसने चक्कूट, भालकूट, मारसिंह, मदमर्दन, वीरनारायण, राजनारायण, धारावर्षोत्पाटन, सेवणदिशपट्ट, विन्ध्याधिपमल्लशिरच्छेदन उपाधियाँ धारण की थी।

बोध प्रश्न 2. सोमे''वर प्रथम कि विजयों एवं उपलब्धियों कि व्याख्या करें। चोल एवं चालुक्य के मध्य संघर्ष के क्या कारण थे?

5.2.3 विक्रमादित्य षष्ठ(1076–1126ई.)

विक्रमादित्य षष्ठ, सोमेश्वर प्रथम का पुत्र तथा सोमे''वर द्वितीय का छोटा भाई था। सोमे''वर प्रथम के पश्चात् सोमे''वर द्वितीय (1068–1076ई.) ने सत्ता संभाली, बिल्हण के विवरण के अनुसार सोमे''वर, विक्रमादित्य षष्ठ को ही उसकी योग्यता के अनुसार इसे ही अपना 'युवराज' बनाना चाहता था। सोमे''वर द्वितीय के काल मे विक्रमादित्य गंगवाडि तथा बनवासी पर शासन का संचालन कर रहा था। हैदराबाद संग्रहालय में सुरक्षित दो दानपत्रों से ज्ञात होता है कि वह एक बहुत ही महत्वाकांक्षी व्यक्ति था, जिसके अनुसार विक्रमादित्य ने अपने बाहुबल से सोमे''वर से राजलक्ष्मी को ग्रहण कर लिया था। 1076 ई0 में जब वह सत्ता मे आया तो उसने अपने राज्यारोहण के साथ एक सम्वत् 'चालुक्य विक्रम संवत्' का प्रवर्तन किया। विक्रमादित्य के इक्यावन वर्षों के शासनकाल मे इसी संवत् का प्रयोग किया गया। शास्त्री के अनुसार इस संवत् की 11 फरवरी 1076 ई0 रही होगी। विक्रमादित्य को अपने शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों मे 1083 ई0 में उसके छोटे भाई जयसिंह तृतीय का विद्रोह झेलना पड़ा। विक्रमादित्य तथा उसके छोटे भाई जयसिंह तृतीय के संबद्ध पहले बहुत अच्छे थे एवं उत्तराधिकार संघर्ष मे उसने उसका साथ भी दिया था। जिसके कारण सिंहासन प्राप्त करने के बाद विक्रमादित्य ने जयसिंह को वनवासी का उपराजा बनाया एवं बेल्वोन, पुलगिरे तथा कन्दूर के प्रांत भी प्रदान किए। बिल्हण ने इसके साथ युद्ध के घटनाक्रम का विस्तृत से विवरण प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार जयसिंह जब अपने अधिकारों से संतुष्ट नहीं हुआ तो उसने आटविक जातियों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर अपनी शक्ति बढ़ाने लगा।

विक्रमादित्य ने जयसिंह के साथ संधि करने का भी प्रयास किया किन्तु संभवत उसने इसे उसकी कमजोरी समझा। अंत मे दोनों के मध्य युद्ध अनिवार्य हो गया, इस युद्ध मे प्रारम्भ में जयसिंह की गजसेना को कुछ सफलता मिली किन्तु अन्ततः विक्रमादित्य ने जयसिंह को पराजित कर बन्दी बना लिया। विल्हण ये बताता है कि विक्रमादित्य ने उसके प्रति उदारता का व्यवहार किया और उसे स्वतंत्र कर दिया।

जयसिंह के विद्रोह के पश्चात् विक्रमादित्य को होयसलों का सामना करना पड़ा। होयसल पहले चालुक्यों के अधीन सामंत थे, तथा विक्रमादित्य के समकालीन होयसल वंश के शासक विनयादित्य और उसके पुत्र एरेयंग ने चोलों के विरुद्ध युद्ध में विक्रमादित्य की सहायता की थी। इनका राज्य चालुक्यों तथा चोलों के राज्यों के मध्य स्थित अन्तस्थ राज्य था। जिसकी राजधानी सोसेबूर अथवा द्वारसमुद्र थी। एरेयंग के पुत्र बल्लाल प्रथम और विष्णुवर्धन् ने जब धीरे–धीरे अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारम्भ किया तो यहीं से समस्या बढ़ गयी, यद्यपि वे अब भी चालुक्यों की अधीनता स्वीकार करते रहे। बल्लाल की उपाधि त्रिभुवनमल्ल से सूचित होता है कि वह विक्रमादित्य का सामन्त था। किन्तु उसके छोटे भाई विट्टिग, जो बाद में विष्णुवर्धन् के नाम से प्रसिद्ध हुआ, ने पाण्ड्यों तथा कदम्बों का सहयोग प्राप्त करके उत्तर में कृष्णा नदी तक के चालुक्य राज्य को जीत और स्वयं को स्वतन्त्र कर लिया। विष्णुवर्धन् ने उसके विद्रोह को दबाने के लिए अपने सेनापति जगद्देव परमार के नेतृत्व में एक सेना भेजी। होयसल लेखों से ज्ञात होता है कि पहले विष्णुवर्धन् को जगदेव की सेनाओं के विरुद्ध सफलता मिली, किन्तु विक्रमादित्य ने पाण्ड्यों तथा कदम्बों के साथ समझौता करके स्वयं इस अभियान का नेतृत्व संभाल लिया जिसमे अंतत चालुक्यों को सफलता मिली। होयसलों के विरुद्ध युद्ध में उसे सामन्त शासकों जगदेव तथा अचुगि द्वितीय–से बहुत अधिक सहायता मिली। ऐसा प्रतीत होता है कि होयसलों ने कई बार अपनी स्वतंत्रता के लिए विद्रोह किया किन्तु विक्रमादित्य ने बड़ी ही सफलता के साथ उसे दबा दिया एवं अंततः होयसलों को उसकी अधीनता में रहने के लिए विवश होना पड़ा। विक्रमादित्य ने होयसलों के ऊपर अपनी इन्ही विजय के उपलक्ष्य में विष्णुवर्धन् की उपाधि धारण की। विक्रमादित्य के काल मे एक बार पुनः मालवा के परमारों के साथ संघर्ष कि शुरुआत हुई। उदयादित्य जो विक्रमादित्य का समकालीन शासक उसके सम्बन्ध जो पहले उसके साथ ठीक थे वे बाद में बिगड़ गये। जिसके परिणामस्वरूप विक्रमादित्य ने उसके राज्य पर आक्रमण उदयादित्य की शक्ति का विनाश कर डाला सम्भवतः उदयादित्य युद्ध में ही मारा गया। उदयादित्य के

मृत्य के पश्चात् उसके पुत्रों में उत्तराधिकार युद्ध छिड़ गया उसके तीन पुत्रों लक्ष्मणदेव, नरवर्मा तथा जगद्देव मे यद्यपि कुछ विद्वान् लक्ष्मणदेव तथा जगदेव को एक ही मानते हैं, विक्रमादित्य ने जगदेव का समर्थन तथा उसे राजा बनवा दिया। बाद मे विक्रमादित्य ने जगदेव को अपने पास बुलवा लिया।

चालुक्यों का एक बार पुनः वेंगी के प्रश्न पर चोलों के साथ संघर्ष शुरू हो गया। विक्रमादित्य होयसलों के विरुद्ध अपने अभियान के समय से ही चोलों पर आक्रमण करना चाह रहा था जिसका अवसर उसे तब मिला जब दक्षिण कलिंग का शासक, जो वेंगी के अधीन था, ने विक्रमचोल के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। यद्यपि यह विद्रोह दबा दिया गया किन्तु इससे यहाँ अशांति फैल गयी जिसके पीछे संभवत विक्रमादित्य का भी हाथ रहा होगा। 1118 ई0 में कुलोत्तुंग ने वेंगी से विक्रम चोल को वापस बुला लिया, जिसका लाभ उढ़ाकर अनन्तपाल ने सत्ता पर कब्जा कर लिया। 1115 ई0 के द्राक्षाराम एवं अन्य कई तेलगु प्रदेशों से चालुक्य संवत् की तिथि वाले लेख मिलते है जिनसे इन भागों पर चालुक्य प्रभाव की पुष्टि होती है।

विक्रमादित्य की अन्य विजयों के संदर्भ मे बिल्हण तथा विज्ञानेश्वर की रचनाओं से भी जानकारी मिलती है, यद्यपि इनके विवरण नितान्त अतिरंजित है, अतः हम अक्षरशः इन पर विश्वास नहीं कर सकते, जैसे विज्ञाने"वर कहता है कि विक्रमादित्य का राज्य हिमालय से लेकर रामेश्वरम् तक तथा बंगाल की खाड़ी से लेकर अरब सागर तक फैला था। कुछ लेखों से इसके साम्राज्य के विस्तार के अंतर्गत कोंकण प्रदेश, करहाटक के शिलाहार, नासिक के यादव तथा अनुमकोंड के काकतीय वंश को बताया गया है।

इस प्रकार विक्रमादित्य एक शक्तिशाली शासक, कुशल योद्धा तथा साम्राज्य निर्माता होने के साथ–साथ वह साहित्य तथा कला का महान् उन्नायक था। बिल्हण, विक्रमादित्य के संदर्भ मे लिखता है कि उसे सभी लिपियों का ज्ञान था तथा वह एक कवि एवं अच्छा वक्ता था। उसने अपनी सभा मे कई विद्वानो एवं सेनानायकों को प्रश्रय दिया था, जिनमे अनन्तपाल, गोविन्द, नाम्बिदण्डाधिप, नारायण, वामन, लक्कन, कालिदास, सुरेश्वरः पण्डित तथा सोमेश्वर आदि प्रमुख थे। विक्रमादित्य की रानियाँ भी शासन कार्य में भी भाग लिया जैसे लक्ष्मीमहादेवी, जक्कला देवी, मैललमहादेवी, मलयमतिदेवी किरियकरेयूर और सांवल देवी नरेयंगल अलग–अलग अग्रहारों का शासन देखती थी।

विक्रमादित्य के मन में तमिल देश के ब्राह्मणों के प्रति काफी श्रद्धा थी। नीरगुन्ड ताम्रपत्र से ज्ञात होता है की उसने पाँच सौ तमिल ब्राह्मणों को नीरगुन्ड का

पूरा गाँव दान में दिया था। इसके संभवत दो कारण हो सकते है। अपने शासनकाल के वाइसवें वर्ष में उसने तुंगभद्रा नदी के तट पर एक मन्दिर बनवाया था इसके साथ ही उसने नर्मदा के तट पर 'तुलापुरुष दान' दिया ।

विक्रमादित्य षष्ठ का विद्वानों के प्रति बड़ा दृढ़ अनुराग एवं श्रद्धा थी। संस्कृत के महाकवि बिल्हण तथा न्यायशास्त्रज्ञ विज्ञाने''वर जैसे महान् कवि एवं आचार्यों को उसने संरक्षण दिया था। विल्हणकृत 'विक्रमांकदेवचरित', विज्ञाने''वर की 'याज्ञवल्क्यस्मृति' पर 'मिताक्षरा' नामक टीका इसी के काल मे लिखी गयी। इसी प्रकार विक्रमादित्य ने अपने शासन काल में अनेक नगर, मन्दिर, प्रासाद तथा स्थापत्य का निर्माण कराया ।

बोध प्रश्न 3. विक्रमादित्य षष्ठ कि विजयों एवं उपलब्धियों कि व्याख्या करें। इसके द्वारा कला एवं साहित्य के क्षेत्र मे किए गए कार्यो की व्याख्या करे।

5.2.4 परवर्ती शासक एवं पतन

विक्रमादित्य षष्ठ के पश्चात् सोमे''वर तृतीय(1126–1138ई.) शासक बना एवं इसके काल से चालुक्य वंश के पतन की शुरुवात होती है। सोमे''वर तृतीय के पश्चात, जक्देकमल्ल द्वितीय(1138–1151ई.) तथा तैलप तृतीय (1151–1156ई.)एवं अंत में सोमे''वर चतुर्थ(1181–1189ई.) शासक बना। इस काल तक आते हुए उसके साम्राज्य मे हर तरफ विद्रोह होने लगा तथा चालुक्यों के अधीन कई सामंत विद्रोह करके स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। देवगिरि के यादवों ने चालुक्य राजधानी कल्याणी पर तथा द्वारसमुद्र के होयसलों ने साम्राज्य के दक्षिण भागों पर अधिकार कर लिया, संभवत सोमे''वर ने भाग कर वनवासी मे शरण ले ली जहां उसकी मृत्य के साथ इस वंश का पतन भी हो गया।

5.3 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– उपभाग देखें 5.2.1

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– उपभाग देखें 5.2.2

बोध प्रश्न 3.

उत्तर– उपभाग देखें 5.2.3

5.4 सारांश

कल्याणी के चालुक्य, जिन्होंने 10वीं से 12वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत के एक महत्वपूर्ण हिस्से पर शासन किया था। उनके शासनकाल ने दक्कन क्षेत्र के इतिहास, संस्कृति और वास्तुकला पर एक स्थायी प्रभाव छोड़ा। चालुक्यों की सबसे स्थायी विरासतों में से एक उनकी कला और वास्तुकला का संरक्षण था। चोलों और यादवों के उदय ने उनकी शक्ति को और भी कम कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप अंततः 12वीं शताब्दी में कल्याणी के चालुक्यों का पतन हो गया। अंततः अपने पतन के बावजूद, कल्याणी के चालुक्यों को दक्कन क्षेत्र के इतिहास में एक प्रभावशाली और प्रगतिशील राजवंश के रूप में हमेशा याद किया जाएगा।

5.5 शब्दावली

वास्तुकला–भवनों के विन्यास, आकल्पन और रचना की कला

धान्यकटक –वर्त्तमान गंटूर जनपद में स्थित धरणीकोट

प्रासाद–भवन

आटविक–जंगल

5.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालयः मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

इकाई–6 वेंगी के चालुक्य, विष्णुवर्धन् चतुर्थ एवं विक्रमादित्य तृतीय (विजयादित्य तृतीय)

इकाई की रुपरेखा

6.0 प्रस्तावना

6.1. उद्देश्य

6.2 आरंभिक शासक विष्णुवर्धन् चतुर्थ

6.3 विक्रमादित्य तृतीय (विजयादित्य तृतीय)

6.4 परवर्ती शासक एवं पतन

6.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.6 सारांश

6.7 शब्दावली

6.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.1 प्रस्तावना

वर्तमान आन्ध्र प्रदेश के गोदावरी जिले में कृष्णा एवं गोदावरी के मध्य स्थित पेड्वेगी नामक स्थान से वेंगी की पहचान की जाती है। वातापि के चालुक्य शासक पुलकेशिन् द्वितीय ने सम्पूर्ण दक्कन को जीतने के बाद पूर्वी दक्कन के शासन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए एवं अपने प्रशासन को सुचारू रूप से चलने के लिए अपने छोटे भाई विष्णुवर्धन् को पूर्वी दक्कन का प्रान्तपति नियुक्त किया था। अपने शासन के क्रम में विष्णुवर्धन् ने अपनी शक्ति को बढ़ाकर स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर लिया। इसके राजवंश को वेंगी के पूर्वी चालुक्य वंश के रूप से जाना जाता है। अपनी भौगौलिक अवस्थिति के कारण वेंगी के पूर्वी चालुक्य का चोलों, राष्ट्रकूटों एवं कल्याणी के चालुक्यों के मध्य संघर्ष बना रहा। इसकी सीमा उत्तर–पूर्व में कलिंग वर्तमान ओड़िसा में महेन्द्र पर्वत श्रेणियों से लेकर दक्षिण–पश्चिम में आन्ध्र प्रदेश के नेल्लोर जनपद की मष्णेरु नदी के मध्यवर्ती भाग तक विस्तृत थी।

6.1.उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य वेंगी के चालुक्य वंश के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों

की जानकारी प्राप्त होगी।

1. वेंगी के चालुक्य वंश की स्थापना के बारे में।
2. वेंगी के चालुक्य वंश के प्रारंभिक शासकों के सन्दर्भ में एवं उनकी राजनीतिक उपलब्धियों के विषय में।
3. वेंगी के चालुक्य वंश के शक्तिशाली शासकों की विजय एवं साम्राज्य विस्तार के बारे में ।
4. वेंगी के चालुक्य वंश के शासन के अंतर्गत महत्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियों की।

6.2 आरंभिक शासक विष्णुवर्धन् चतुर्थ

पुलकेशिन् द्वितीय के ऐहोल अभिलेख में विष्णुवर्धन् को महापराक्रमी, कुशल सेनानायक तथा योग्य प्रशासक के रूप में बताया गया है एवं इसके इन्ही गुणों के कारण पुलकेशिन् द्वितीय ने 634–35 ई० के पूर्वी दक्षिणापथ अभियान में चालुक्य–सेना का नेतृत्व विष्णुवर्धन् को सौंपा। विष्णुवर्धन् ने बड़ी ही कुशलता से कलिंग में महेन्द्र पर्वत श्रृंखला तक तथा आन्ध्र प्रदेश के पूर्वी समुद्रतटीय भाग को जीत लिया। इन विजयों के क्रम में दुर्गम दुर्गो को सफलता पूर्वक जीतने के कारण विष्णुवर्धन् ने 'विषमसिद्धि' की उपाधि धारण की। इन्ही उपलब्धियों के कारण पुलकेशिन् द्वितीय ने उसे पूर्वी दक्कन का शासन संचालन के लिए वहां का प्रान्तपति नियुक्त कर दिया। सतारा–अभिलेख(617–18 ई०) से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि पहले उसे 'युवराज' बाद में उसके योग्यता से प्रभावित होकर उसे यहाँ का प्रान्तपति नियुक्त किया गया। पुलकेशिन् द्वितीय के काल के कोप्पम् अनुदान पत्रों से ज्ञात होता है कि विष्णुवर्धन् ने कर्मराष्ट्र जो वर्तमान में आन्ध्रप्रदेश के नेल्लोर क्षेत्र में स्थित है, कुछ भूमि को ब्राह्मणों को दान किया था जिससे यहाँ उसके शासन का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी प्रकार महाराष्ट्र में उसके शासन की सूचना 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' से भी प्राप्त होती है, जिसकी रचना महाकवि 'दण्डी' ने की थी। जिस समय पुलकेशिन् द्वितीय एवं पल्लवनरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम का युद्ध चल रहा था एवं दोनों ही परस्पर संघर्ष में संलग्न थे विष्णुवर्धन् ने अपनी आंतरिक स्थिति सुदृढ़ कर ली तथा अपने सीमान्त क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। विष्णुवर्धन् को अपने इन सैन्य अभियानों में अपने वीर सेनानायक बुद्धवर्मन् तथा कालकंप का सहयोग विशेष रूप से प्राप्त हुआ। इसी कर्म में विष्णुवर्धन् ने अपनी शक्ति को संकेंद्रित कर स्वतन्त्र शासन की स्थापना कर

बेंगी को राजधानी बनाकर उसने पूर्वी चालुक्य राजवंश की नीव डाली। स्वतन्त्र शासक के रुप में उसके दो ताम्रपत्र अब तक प्राप्त हो चुके है, प्रथम ताम्रपत्र विष्णुवर्धन् के शासनकाल के 18 वे वर्ष जारी किया गया था वहीँ दूसरा ताम्रपत्र पिष्टपुर से जारी किया गया था परन्तु इसपर कोई भी तिथि नहीं मिलती है।

के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री का विचार है की गंटूर जनपद के चेर्जला से प्राप्त विषमसिद्धि के अभिलेख से विष्णुवर्धन् के राज्य–विस्तार का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके शासनकाल में सिंह, दीपक तथा त्रिशूल चिन्हांकित चांदी के सिक्कों का प्रचलन किया। नीलकण्ठ शास्त्री का मानना है कि इसने सम्भवतः 623 ई० से 641 ई० के मध्य शासन किया था। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीयम् के रचयिता महाकवि भारवि को विष्णुवर्धन् ने संरक्षण प्रदान किया था।

बोध प्रश्न 1

1.विष्णुवर्धन् चतुर्थ की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों की व्याख्या करें।

.....

.....

.....

6.3 विक्रमादित्य तृतीय(विजयादित्य तृतीय)

विष्णुवर्धन् के पश्चात् उसका पुत्र जयसिंह प्रथम वेंगी का शासक बना। भूमि दानपत्रों से ज्ञात होता है कि उसने अनेक छोटे–छोटे शासकों को जीतकर वेंगी राज्य का विस्तार किया। यद्यपि ताम्रपत्रों में पराजित शासकों के बारे में परिचय नहीं प्राप्त होता अतः इन विजयों के सन्दर्भ में कुछ प्रामाणिक तौर पर कहा नहीं जा सकता। इसने 33 वर्षो तक शासन किया इसके पश्चात इन्द्रवर्मन् (663ई), विष्णुवर्धन् द्वितीय (663ई–672ई),मंगियुवराज विजयसिद्धि (682ई. –706ई), जयसिंह द्वितीय सर्वसिद्धि, (706ई.–718ई.), विष्णुवर्द्धन तृतीय (718ई. –746ई.), विजयादित्य प्रथम,(746ई.–764ई.), तथा विष्णुवर्द्धन चतुर्थ, (764ई. –799ई.), विजयादित्य द्वितीय, (799ई.–847ई.), विष्णुवर्धन् पंचम् (847ई.–848ई.), आदि शासकों ने 848 ई०तक राज्य किया। इस काल तक आते आते वेंगी के चालुक्य वंश को सबसे बड़ी चुनौती राष्ट्रकूट शासको द्वारा प्रस्तुत की गयी। इन शासकों के शासनकाल एवं इनकी उपलब्धियों के सन्दर्भ में ऐतिहासिक जानकारियों के अभाव के कारण निश्चित तौर पर कोई भी निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता है। इन सभी शासकों के काल में सत्ता को लेकर चलने वाले गृहयुद्धों के साथ– साथ तत्कालीन राष्ट्रकूट, पश्चिमी चालुक्य तथा चोल

शासकों ने भी वेंगी के शासन को अस्थिर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

विष्णुवर्धन् पंचम् के पश्चात् उसका पुत्र विजयादित्य तृतीय 848 ई० में वेंगी का शासक बना वह अपने पितामह विजयादित्य द्वितीय की भाँति योग्य एवं कुशल शासक था। उसने शासन–सत्ता संभालते ही बहुत ही आक्रामक नीति का पालन करते हुए अपने समकालीन एवं सीमावर्ती शत्रु–राज्यों की शक्ति को चुनौती दी एवं अपने खोए भूभाग को पुनः प्राप्त किया। इसने बड़े ही सशक्त तरीके से वेंगी–राज्य की सीमाओं का न केवल प्रसार किया, अपितु खोयी हुई गरिमा को पुनः स्थापित किया। इस क्रम में उसने सर्वप्रथम पल्लवों जिन्होंने उसके साम्राज्य में अस्थिरता फ़ैलाने में सर्वाधिक योगदान दिया था के विरुद्ध सामरिक अभियान करके नेल्लोर नगर पर आक्रमण कर उसको जीतकर वहां की बोथ जाति जो पल्लवों को समर्थन करती थी को परास्त कर दिया। इसके पश्चात चालुक्य सेना पल्लवनरेश अपराजित को भी पराजित किया एवं कांची नगर पर आक्रमण कर भारी लूटमार की तथा वहाँ से बहुमूल्य रत्न, सोना आदि लूट लिया।

पल्लवों के बाद विजयादित्य तृतीय (848ई.–892ई.), ने अगला अभियान पाण्ड्यों के विरुद्ध किया तथा पाण्ड्य राज्य को जीत लिया। एक अभिलेख में तंजोर नगरी पर उसकी विजय का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः उसने चोलनरेश विजयालय को, जो पाण्ड्यों के विरुद्ध को अपने राज्य में संरक्षण देकर सुरक्षा प्रदान की। अम्मद्वितीय कालीन मलियपुंडि लेख से ज्ञात होता है कि विजयादित्य तृतीय ने नोलम्ब वर्तमान मैसूर नरेश मँगि को पराजित करके उसकी हत्या कर दी। इसके पश्चात विजयादित्य तृतीय ने बड़े ही आक्रमकता से गंगवाड़ी नरेश नीतिमार, कल्चुरि संकिल तथा राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय को भी अपने साहस से भयाक्रान्त कर दिया। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय की सेना को परजित करके उसका पीछा करते हुए उसने कलिंग, वेमुलवाड तथा दक्षिणी कोसल के शासकों को भी जीत लिया। इस सैन्य अभियान के क्रम में उसने कोसल एवं कलिंग राज्यों से विपुल सम्पत्ति प्राप्त की। उसने आगे बढ़कर बस्तर राज्य के चक्रकूट नगर को ध्वस्त कर दिया। विजयादित्य तृतीय ने राष्ट्रकूट शासित नगर अचलपुर को जला डाला। इसके पश्चात् अपने विजय अभियान के क्रम में विजयादित्य ने चेदियों एवं राष्ट्रकूटों की सम्मिलित सेना को घेरकर भीषण युद्ध में उन्हें भी पराजित करके किरनपुर, वर्तमान मध्यप्रदेश में स्थित बालाघाट जनपद के किरनपुर को जलाकर नष्ट कर दिया।

राष्ट्रकूटों के विरुद्ध उसके युद्धाभियानों में उसकी सफलता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है, कि उसने राष्ट्रकूटों का राजकीय चिन्ह यथा

गंगा–यमुना की आकृति एवं उपाधियों जैसे वल्लभ आदि को छीनकर स्वयं ही धारण कर ली। अंत में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वित्तीय द्वारा आत्मसमर्पण करने पर उसने उसका राज्य पुनः उसे वापस लौटा दिया। इस प्रकार विजयादित्य तृतीय वेंगीशाखा के चालुक्य नरेशों मे महानतम् विजेता एवं शासक सिद्ध हुआ। अपने जीवनकाल में सम्पूर्ण सामरिक अभियानों में उसे सफलता मिलती गई तथा उसके राज्य की सीमाएं उत्तर में गंजाम जनपद से लेकर दक्षिण में पुलिकतधीव क्षेत्र तक फ़ैल गया था। उसने अपने राजत्व काल में अनेक उपाधियाँ धारण की, जिनमें गुणकेनल्लाट, परचक्रराम, त्रिपुरामत्यमहेश्वर तथा अरशंककेशरिन् विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। विजयादित्य तृतीय ने वेंगीशाखा के चालुक्य वंश के गौरव को पुनः स्थापित किया एवं सफलता पूर्वक 44 वर्ष तक शासन करने के बाद 892 ई० में उसके देहावसान के साथ ही उसका शासन समाप्त हो गया।

बोध प्रश्न 2

2. विक्रमादित्य तृतीय(विजयादित्य तृतीय) की राजनीतिक उपलब्धियां की व्याख्या करें। (500 शब्द)

उत्तर.....

.....

.....

.....

6.4 परवर्ती शासक एवं पतन

विजयादित्य के बाद उसका भतीजा भीम प्रथम 888 ई० में सत्ता में आया। इसके सत्ता में आने के तुरंत बाद राष्ट्रकूटनरेश कृष्ण द्वितीय ने वेंगी पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया, तथा राज्य का एक बहुत बड़ा भाग राष्ट्रकूटों के आधीन हो गया। किन्तु भीम ने पूरी पुनः अपनी शक्ति को संकेंद्रित करके राष्ट्रकूट राज्य पर आक्रमण कर कृष्ण द्वितीय को पराजित कर अपनी हार का बदला चुकाया। उसने 918–919 ई० के मध्य शासन किया। उसके पश्चात विजयादित्य चतुर्थ (918–919 ई०), अम्मप्रथम (919 ई० से 926 ई० तक), विजयादित्य पंचम् (926 ई०), विक्रमादित्य द्वितीय (927 ई० तक), भीमद्वितीय, (928 ई०), अम्मद्वितीय (946 ई० से 956 ई) वादप वादप, ताल द्वितीय, अम्मद्वितीय (970 ई०), दानार्णव (970 ई० से 973 ई०), चोड़–भीम (973 ई० से 999 ई०), शक्तिवर्मन् (999 ई० से 1011 ई०) तथा कुछ अन्य छोटे–छोटे राजाओं के बाद 1063 ई० में कुलोत्तुंग चोल वेंगी की सत्ता पर बैठा। कुलोत्तुंग

चोल, में वेंगी के चालुक्यों एवं चोल रक्त विद्यमान था जो इन दो राजवंशो के पारस्परिक विवाहों एवं रक्तमिश्रण का परिणाम था। कुलोत्तुंग के आगमन के पश्चात् 1120 ई० तक वेंगी का चालुक्य राज्य शक्तिशाली एवं विशाल चोल साम्राज्य में व्याप्त हो गया।

6.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

उत्तर– उपभाग देखें 6.2

बोध प्रश्न 2

उत्तर– उपभाग देखें 6.3

6.6 शब्दावली

- वास्तुशिल्प वास्तु या मकान, महल आदि बनाने की कला
- मामल्लपुरम् रथ रथ शैली में निर्मित मामल्लपुरम् के मंदिर

6.7 सारांश

पल्लव राजवंश अंतर्गत राजनीति, कला और आध्यात्मिकता की परस्पर क्रिया ने एक ऐसा ताना–बाना बुना है जो प्राचीन दक्षिण भारत के सांस्कृतिक परिदृश्य को आज भी पारिभाषित करता है। उनका वास्तुशिल्प कौशल, शोर मंदिर और मामल्लापुरम रथ जैसे लुभावने स्मारकों उनके काल के तकनीकी दक्षता एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के गहरे संबंध को अभिव्यक्त करती है। पल्लवों ने साहित्य एवं कला को जो संरक्षण दिया विशेषरूप से कांचीपुरम और मामल्लापुरम शिलालेखों के निर्माण के माध्यम से, उनकी बौद्धिक जीवंतता और ज्ञान को संरक्षित करने की प्रतिबद्धता के प्रमाण के रूप स्वीकार की जा सकती है।

6.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, विश्वविद्यालयः मद्रास, मद्रास।

4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।

5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

इकाई–7 राष्ट्रकूट वंश–स्रोत्र, ध्रुव, गोविन्द तृतीय, अमोघवर्ष प्रथम, इन्द्र तृतीय

इकाई की रुपरेखा

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 राष्ट्रकूट वंश के इतिहास के स्रोत

7.3 राष्ट्रकूट वंश के इतिहास की रुपरेखा

7.3.1 ध्रुव

7.3.2 गोविन्द तृतीय

7.3.3 अमोघवर्ष प्रथम

7.3.4 इन्द्र तृतीय

7.4 राष्ट्रकूट वंश के परवर्ती शासक एवं पतन

7.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.6 सारांश

7.7 शब्दावली

7.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 प्रस्तावना

सातवाहनों के बाद चालुक्य नरेशों ने दक्कन के जिस भू–भाग पर अपना राज्य स्थापित किया था, उसी भू–भाग पर कालांतर मे राष्ट्रकूटों ने अपना राज्य स्थापित किया। इसके साथ ही अपने पूर्ववर्ती राजवंशों की भाँति ही उन्होने भी उत्तरी एवं दक्षिणी भारत की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। पश्चिमी चालुक्यों के अन्तिम चालुक्य शासक कीर्तिवर्मन् द्वितीय की अयोग्यता का लाभ उठाकर आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उसके महाराष्ट्र के सामन्त शासक राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने राष्ट्रकूट वंश की नीव रखी। इनकी उत्पत्ति को लेकर विद्वानों मतभेद है, एम० सी० नन्दिमथ तथा चिन्तामणि विनायक वैद्य जैसे इतिहासकारों ने इनकी पहचान अशोक के अभिलेखों में उल्लिखित 'रट्ठिकों' की पहचान राष्ट्रकूटों से की है।राष्ट्रकूटों के प्रारम्भिक अभिलेखों में उन्हें 'रिट्ठ' कहा

गया है। इन्द्र तृतीय के नौसारी–अभिलेख में राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष को 'रट्ठ–कुल–लक्ष्मी का उद्धारक' बताया गया है। इसके साथ ही कृष्ण तृतीय के बेवली तथा करहट अभिलेखों मे भी ऐसा विवरण प्राप्त होता है। इनमें 'रट्ठ' को उक्त राज वंश का आदिपुरुष बताया गया है।

राष्ट्रकूट–अभिलेखों में उन्हें सात्यकि–यदुवंशी भी बताया गया है। शक सम्वत् 836 के एक अभिलेख में विवरण मिलता है कि राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग का जन्म यदुवंशी सात्यकि–शाखा में हुआ था। जे० एफ० फ्लीट ने राष्ट्रकूटों का सम्बन्ध उत्तरी भारत की राठौर (क्षत्रिय) जाति से, वहीं वी० एन० राय का मानना है कि राष्ट्रकूटों का संबंध गाहड़वालों से था, यद्यपि दोनों ही मत के साथ एक ही समस्या है कि वे बहुत बाद मे उदय होने वाले दोनों ही वंशों के साथ इनका कोई क्रमिक इतिहास नहीं मिलता है।

'राष्ट्रकूट' शब्द को लेकर भी इतिहासकारों मे मतभेद है, चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द का आशय राष्ट्र राज्य अथवा मण्डल वहीं कूट से तात्पर्य प्रधान या प्रमुख से होगा। अल्तेकर, नीलकंठ शास्त्री, ए० के० मजूमदार जैसे विद्वानो का भी मानना है कि 'राष्ट्रकूट' कोई जाति सूचक शब्द न होकर पद अथवा प्रशासन से जुड़ा हुआ ज्यादा प्रतीत होता है। जैसे कि ग्राम के अधिकारी लिए कई बार ग्रामकूट पदनाम का प्रयोग प्राप्त होता है।

चि० वि० वैद्य, डी० आर० भण्डारकर एवं नन्दिमथ आदि विद्वानों ने राष्ट्रकूटों का मूल स्थान महाराष्ट्र प्रदेश स्वीकार किया है। वहीं अनन्त सदाशिव अल्तेकर 'राष्ट्रकूट' शब्द को कन्नड़ शब्द मानते हैं और उनका सम्बन्ध कन्नड़देश (कर्नाटक) से स्वीकार करते हैं। अभिलेखों में राष्ट्रकूटों को कई बार 'लठ्ठलूरपुरवराधी''वर' कहा गया है। जिसके आधार पर नन्दिमथ तथा पी० बी० देसाई आदि विद्वानों ने उनके मूल स्थान कि पहचान महाराष्ट्र प्रान्त के ओस्मानाबाद–क्षेत्र में स्थित लठ्ठलूर अथवा लाटूर स्थान को मानते है, जो सम्भवतः ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में कन्नड़ अथवा कर्नाटक का भाग रहा होगा। इनकी मातृभाषा कन्नड़ थी, तथा राजकीय चिन्ह गरुड़ एवं राजधानी मान्यखेत थी।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा राष्ट्रकूट वंश के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1. राष्ट्रकूट वंश के इतिहास को जानने मे सहायक स्रोतों के बारे में।
2. राष्ट्रकूट वंश के प्रारंभिक शासकों के सन्दर्भ में यथा ध्रुव, गोविन्द तृतीय, अमोघवर्ष प्रथम, इन्द्र तृतीय एवं उनकी राजनीतिक उपलब्धियों के विषय में।
3. राष्ट्रकूट वंश के शक्तिशाली शासकों की विजय एवं साम्राज्य विस्तार के बारे में।
4. राष्ट्रकूट वंश के के शासन के अंतर्गत उनकी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियों की।
5. राष्ट्रकूट वंश के परवर्ती शासकों एवं पतन के संदर्भ मे।

7.2 राष्ट्रकूट वंश के इतिहास के स्रोत

राष्ट्रकूट काल कन्नड़ तथा संस्कृत भाषा के विकास का काल था, जिसमे अनेक ग्रंथो की रचना की गयी। इन ग्रंथो का इस वंश के ऐतिहासिक ज्ञान को जानने मे बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान है, इनमे प्रमुख रूप से, जिनसेन का आदिपुराण, महावीराचार्य का गणितसारसंग्रहण, अमोघवर्ष का कविराजमार्ग आदि उल्लेखनीय हैं। जिनके अध्ययन से तत्कालीन समाज और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त होता है।

पुरातात्त्विक साक्ष्यों मे राष्ट्रकूट शासकों द्वारा खुदवाये गये बहुसंख्यक अभिलेख तथा दानपत्र जो उनके साम्राज्य के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए है उनसे बहुत महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन प्रमुख राष्ट्रकूट लेखों, दन्तिदुर्ग के एलौरा एवं सामन्तगढ़ के ताम्रपत्राभिलेख, गोविन्द तृतीय के राधनपुर, वनि दिन्दोरी तथा बड़ौदा के लेख, अमोघवर्ष प्रथम का संजन अभिलेख, इन्द्र तृतीय का कमलपुर अभिलेख, गोविन्द चतुर्थ के काम्बे तथा संगली के लेख, कृष्ण तृतीय के कोल्हापुर, देवली तथा कर्नाट के लेख। इन अभिलेखों कि खास बात यह है कि ये सभी तिथि युक्त है जिससे हमे राष्ट्रकूट राजाओं की वंशावली, सैनिक अभियानों, शासन–व्यवस्था, धार्मिक अभिरुचि, आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

7.3 राष्ट्रकूट वंश के इतिहास की रुपरेखा

मान्यखेट के राष्ट्रकूट वंश का पहला ऐतिहासिक शासक दन्तिवर्मा (लगभग 650–665–70 ई0) था। उसके बाद इन्द्रपृच्छकराज (670–690 ई0) तथा गोविन्दराज (690–700 ई०) हुआ। इन शासकों के उपलब्धियों के विषय में

कोई विशेष जानकारी नहीं है। गोविन्दराज के पश्चात उसका पुत्र कर्कराज शासक बना। इसके तीन पुत्रों के नाम मिलता हैं, जिनमे–इन्द्र, कृष्ण तथा नन्न है। इनमें से इन्द्र(715 ई0 –735 ई0) जो प्रारम्भिक राष्ट्रकूट शासकों में सवसे योग्य तथा शक्तिशाली था अपने पिता के बाद शासक बना। संजन ताम्रपत्रों से पता चलता है कि चालुक्य राजा पराजित कर इसने उसकी कन्या भवनागा के साथ राक्षस विवाह कर लिया था। जिससे दन्तिदुर्ग ने जन्म लिया एवं जिसने राष्ट्रकूट वंश की स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना की। इसके विजयों के विषय में उसके समय के दो लेखों–दशावतार (742 ई०) तथा समनगड का लेख (753 ई0) से जानकारी प्राप्त होती हैं।

चालुक्य शासक विक्रमादित्य द्वितीय के सामन्त के रूप में दन्तिदुर्ग(735ई. –755ई.) ने अपनी शक्ति एवं प्रतिष्ठा को बढ़ाया। अरबों के विरुद्ध सफल अभियान से होकर विक्रमादित्य ने उसे 'पृथ्वीवल्लभ' तथा 'खड़वालोक' की उपाधि प्रदान की। उसने युवराज कीर्तिवर्मा द्वितीय के साथ कांची के पल्लवों एवं कर्नूल के शासक श्रीशैल को युद्ध में पराजित किया एवं अपनी शक्ति को लगातार बढ़ाया। कीर्तिवर्मा द्वितीय की अयोग्यता का फ़ायदा उढ़ाकर दन्तिदुर्ग ने नन्दिपुरी के गुर्जरों तथा नौसारी के चालुक्यों पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उसने मालवा के प्रतिहार राज्य पर आक्रमण कर उज्जैन के ऊपर अधिकार कर लिया। दन्तिदुर्ग के बढ़ते प्रभाव के परिणामस्वरूप कीर्तिवर्मा उनके मध्य युद्ध अनिवार्य हो गया, जिसमें अंततः दन्तिदुर्ग ने कीर्तिवर्मा को पराजित कर दिया। यद्यपि इस विजय के बाद भी चालुक्यों के कर्नाटक राज्य में कोई कमी नहीं आई, जिसका प्रमाण 754 ई० के सतारा में कीर्तिवर्मा ने एक ग्राम दानपत्र से मिलता है। इस युद्ध के बाद दन्तिदुर्ग का महाराष्ट्र पर अधिकार हो गया तथा उसने 'महाराजाधिराज परमेश्वर परम भट्टारक' जैसी स्वतन्त्र सम्राट सूचक उपाधि धारण की। 756 ई0 के लगभग उसकी मृत्यु हो गयी।

दन्तिदुर्ग के पश्चात् उसकी कोई संतान न होने के कारण उसका चाचा कृष्ण प्रथम (756ई.–772ई.) शासक बना था। कृष्ण प्रथम ने दन्तिदुर्ग के समान साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया एवं राज्यारोहण के पश्चात् लाट् प्रदेश पर आक्रमण कर अपने भतीजे कर्क द्वितीय, पराजित कर उसके विद्रोह का दमन किया तथा लाट प्रदेश में अपनी स्थिति मजबूत बना ली। दन्तिदुर्ग ने चालुक्य नरेश को परास्त कर कमजोर कर दिया था किन्तु उनका उन्मूलन नहीं कर सका था। कृष्ण प्रथम ने कीर्तिवर्मन् को प्रभावी तरीके से पराजित करके कर्नाटक पर अपना अधिकार कर लिया तथा अपने सामंत के रूप में अपझल्ल को नियुक्त किया, जो शिलाहार वंश का संस्थापक था। चालुक्यों के पश्चात

कृष्णा ने मैसूर के गङ्ग वंश के शासक श्रीपुरुष पर आक्रमण कर उसे पराजित करके उसे अपना सामंत बना लिया। इसके पश्चात् कृष्ण ने अपने बड़े पुत्र गोविन्द को वेंगी के पूर्वी चालुक्यों पर आक्रमण करने के लिये भेजा। वेंगी के चालुक्य नरेश विष्णुवर्धन् चतुर्थ ने गोविन्द की सैन्य शक्ति देखकर बिना लड़े ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली एवं अपनी कन्या शीलभट्टारिका का विवाह भी गोविन्द के छोटे भाई ध्रुव से कर दिया। इस विजय के पश्चात् वेंगी–राज्य का अधिकांश भाग राष्ट्रकूट साम्राज्य का भाग हो गया। उसने राष्ट्रकूट साम्राज्य को अत्यन्त विस्तृत हो गया जिसमें सम्पूर्ण महाराष्ट्र एवं कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेश का एक बड़ा भाग शामिल था। अपनी विजयों के अतिरिक्त कृष्ण प्रथम एक महान् निर्माता भी था। उसने एलोरा के प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर का निर्माण करवाया था। उसने 773 ई0 तक शासन किया।

कृष्ण प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र गोविंद द्वितीय (773ई.–780ई.) ने सत्ता ग्रहण की एवं अपने भाई ध्रुव को नासिक का राज्यपाल नियुक्त किया। संभवतः गोविंद द्वितीय की विलासिता एवं प्रशासनिक कार्यों के प्रति उसकी उदासीनता के कारण उसके छोटे भाई ध्रुव ने गोविन्द के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जिसमें ध्रुव विजयी हुआ और गोविन्द संभवतः मार डाला गया। गोविन्द द्वितीय ने 773 ई0 से लेकर 780 ई0 तक शासन किया।

7.3.1 'ध्रुव धारावर्ष' (780–793 ई०)

प्रशासक रहते हुए ध्रुव ने काफी लोकप्रियता प्राप्त की थी, साथ अपनी योग्यता से उसने अधिकांश सामंतों एवं मंत्रियों को अपना समर्थक बना लिया था। वेंगी के शासक विष्णुवर्धन् चतुर्थ की पुत्री शीलभट्टारिका से उसका विवाह हुआ था, जो उसकी राजमहिषी बनी। धुलिया–ताम्रपत्र अभिलेख से जानकारी मिलती है कि ध्रुव 779 ई० तक अपने अग्रज गोविन्द द्वितीय के अधीन शासक था। अनन्त सदाशिव अल्तेकर का मानना है कि ध्रुव ने 780 ई० या इसके लगभग सत्ता–अधिकृत की। संभवतः इसी अवसर पर उसने 'निरुपम' तथा 'धारावर्ष' की उपाधि धारण की, एवं आगे चलकर उसने एक और उपाधि 'कलिवल्लभ' भी धारण की। राजत्व संभालने के पश्चात् उसे विरोधी सामंतों एवं राजत्व के लिए हुए युद्ध मे गोविंद का सहयोग करने वाले प्रतिद्वदियों का सामना करना पड़ा।

इस क्रम मे उसने गंगवाड़ी(मैसूर) पर आक्रमण किया, यहाँ का शासक श्रीपुरुष मुत्तरस वृद्ध हो चुका था,अतः उसके पुत्र शिवमार जो तर्क, व्याकरण, नाट्यशास्त्र और हस्तिविद्या का बड़ा ही विद्वान् था ने युद्ध का नेतृत्व किया

।ध्रुव ने शिवमार को पराजित कर बन्दी बना लिया एवं पूरे गंग–बाड़ी क्षेत्र पर अधिकार कर अपने पुत्र स्तम्भ रणावलोक को वहाँ का शासक नियुक्त किया। इसके पश्चात ध्रुव अपने अगले अभियान के क्रम मे वह पल्लव शासक दन्तिवमंन् से युद्ध के लिए अग्रसर हुआ। 782 ई० के लगभग राष्ट्रकूटों की सेना ने पल्लव सेना को घेर लिया, जिसके परिणामस्वरूप पल्लव सेना ने भयभीत और पराजित होकर ध्रुव को भेट स्वरूप असंख्य हाथियों को भेंट कर किसी तरह युद्ध से मुक्ति पायी। इस युद्ध मे वेंगी नरेश विष्णुवर्धन् ने पल्लवों के विरुद्ध ध्रुव की सहायता की। संभवतः यह युद्ध कहीं समुद्र तट पर हुआ, इस युद्ध मे विजय के पश्चात भी राष्ट्रकूटों की सेना ने कांची को कोई विशेष क्षति नहीं पहुंचाई। इन विजयों के फलस्वरूप राष्ट्रकूटों का राजनीतिक वर्चस्व समस्त दक्षिणापथ पर स्थापित हो गया।

दक्षिण भारत में अपना प्रभाव स्थापित करने के पश्चात ध्रुव ने उस समय उत्तर भारत की राजनीति अथवा कन्नौज की तरफ ध्यान दिया, जहाँ सम्राट हर्ष के पश्चात् रिक्तता की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। कन्नौज का राज्य इस समय आयुध वंश के अधीन था जो राजनीतिक शक्ति की दृष्टि से अत्यंत कमजोर था। उत्तर भारत की राजनीतिक परम्परा में कन्नौज का बहुत महत्व था एवं यह समझा जाता था कि जिस किसी का कन्नौज पर आधिपत्य होगा, वहीं सम्पूर्ण उत्तरापथ का सार्वभौम स्वामी माना जायेगा। इसी समय उत्तर भारत मे गुर्जर–प्रतिहार एवं बंगाल मे पाल वंश का उदय हो रहा था, एवं ये दोनों ही वंश कन्नोज के ऊपर अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे। जिसका अर्थ था उत्तरापथ में राजनीतिक दृष्टि से सर्वोपरि होना। सम्भवतः इसी कारण दक्षिणापथ की सर्वोच्चसत्ता स्थापित करने के पश्चात् ध्रुव ने कन्नौज पर अभियान करने का निर्णय लिया,एवं एक ऐसे त्रिकोण युद्ध आरम्भ हुआ जो पाल–प्रतिहार और राष्ट्रकूट वंशों के बीच पीढ़ियों तक चलता रहा।

कन्नौज में इस समय इन्द्रायुध का शासन था जो अत्यंत ही कमजोर शासक था, अतः इसका लाभ उठाकर गुर्जर प्रतिहार नरेश वत्सराज ने कन्नौज पर आक्रमण कर इन्द्रायुध को पराजित कर पुनः उसे ही अपने अधीन कन्नौज का स्वामित्व सौंप दिया। इस घटना के पश्चात पालवंशीय शासक धर्मपाल ने कन्नौज पर अपना प्रभाव जमाने के लिए कन्नौज को आक्रान्त कर इन्द्रायुध को हटाकर उसके भाई चक्रायुध को अपने अधीन कन्नौज के राजपीठ पर बैठा दिया। धर्मपाल की यह सफलता स्थायी नहीं रही एवं वत्सराज ने पुनः कन्नौज पर धावा बोल दिया, एवं सरलता से गौड़राज धर्मपाल को पराजित कर उसका ''वेत छत्र' छीन लिया। धर्मपाल ने अपनी पराजय का बदला लेने के लिए पुनः

एक विशाल सेना के साथ गुर्जर नरेश वत्सराज से युद्ध के लिए गंगा घाटी की ओर अग्रसर हुआ। पालों एवं गुर्जर प्रतिहारों के इस संघर्ष की स्थिति को ध्रुव ने उत्तरापथ की राजनीति में हस्तक्षेप करने का सर्वोत्तम अवसर समझा एवं जिसके परिणामस्वरूप त्रिकोणात्मक संघर्ष प्रारम्भ हो गया ।

ध्रुव एक चतुर सैन्य संचालक और कूटनीतिज्ञ था। उसने बड़ी ही चतुराई से अपनी सेना का संचालन किया, जिस समय वत्सराज एक विशाल सेना के साथ कन्नौज ओर धर्मपाल का सामना करने बढ़ गया था ध्रुव ने अपने पुत्र गोविन्द और इन्द्र को मालवा में नियुक्त किया जिसे यह दायित्व दिया गया कि उन्हे वत्सराज की सेना को मालवा से बाहर जाने में अवरोध उत्पन्न करना है जिससे कि वत्सराज को अपनी पश्यगामी सेना से सहायता न मिल सके। दूसरी तरफ से ध्रुव ने अपनी विशाल सेना के साथ झाँसी के आस–पास वत्सराज की सेना पर आक्रमण कर दिया। जिसमे, वत्सराज की बुरी तरह पराजय हुआ, एवं उसे मरुस्थल में भाग कर जान बचानी पड़ी, ध्रुव ने वत्सराज से वह प्रतिष्ठा का छत्र भी छीन लिया जिसे उसने गौड़नरेश धर्मपाल से छीना था। वत्सराज कि पराजय के पश्चात् धर्मपाल इस ताक में था, कि वत्सराज के पराजय के बाद कन्नौज को अधिकृत कर लेगा, अतः ध्रुव ने वत्सराज को पराजित करने के पश्चात् वह धर्मपाल की ओर बढ़ा। लगभग 787 ई० में इस युद्ध में धर्मपाल की पराजय हुई, संजन दानपत्र के अनुसार गंगा और यमुना के दोआब में भागते हुए गौड़राज की लक्ष्मी का क्रीड़ा कमल राज छत्र को छीन लिया। इस विजय के प्रतीक रूप में ध्रुव ने राजचिह्न के रूप में गंगा और यमुना को स्वीकार किया।

प्रतिहारों एवं पालों को प्रभावी तौर पर पराजित करने के बाद भी ध्रुव कन्नौज पर बिना अधिकार किये अथवा अपने प्रतिनिधि को कन्नौज पर स्थापित किए बिना उसे दक्षिण में लौटना पड़ा। इतिहासकारों का मानना है कि संभवतः इसके पीछे दक्षिण की आंतरिक स्थिति रही होगी जिसके कारण ध्रुव को सहसा अपने गृह राज्य लौटना पड़ा होगा। इस विजय के उपरांत राष्ट्रकूट वंश का यश उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ मे स्थापित हो गया, राष्ट्रकूट वंश की धाक पूरे भारत में जम गई।

ध्रुव ने एक विस्तृत एवं व्यवस्थित करने के पश्चात् उसके चारों पुत्रों में, ज्येष्ठ पुत्र कर्क सम्भवतः उसके जीवनकाल में ही दिवंगत हो गया, स्तम्भ जो गोविन्द से ज्येष्ठ था, गंगवाड़ी का प्रतिनिधि बनाया गया, इन्द्र को उसने गुजरात और मालवा का शासन एवं उसने अपने तृतीय पुत्र गोविंद तृतीय को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। राधनपुर ताम्रपत्र लेख से भी ज्ञात होता है, कि ध्रुव

ने उसे सहर्ष अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। अपने राजत्व को पूरी तरह व्यवस्थित करने के पश्चात् अपने ही जीवनकाल ही में लगभग 793 ई० में गोविंद का युवराज्याभिषेक करके वह दिवंगत हुआ।

बोध प्रश्न 1. राष्ट्रकूट वंश के इतिहास निर्माण मे सहायक स्रोतों का वर्णन करते हुए, ध्रुव धारावर्ष कि उपलब्धियों कि व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

7.3.2 गोविन्द तृतीय (793–814 ई०)

ध्रुव ने अपने शासनकाल के अंतिम वर्षों में गोविन्द तृतीय को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। सूरत–ताम्र–पत्र–लेख से ज्ञात होता है, कि ध्रुव को सम्भवतः राजत्व को लेकर अपने योग्य पुत्रों के बीच गृह–युद्ध की आशंका थी, इसी कारण उसने गोविन्द तृतीय को अपने शासनकाल में ही राष्ट्रकूट सिंहासन पर स्थापित कर दिया था। यद्यपि शासन के प्रारम्भिक वर्षों मे उसे किसी विद्रोह का सामना नहीं करना पड़ा किन्तु दो–तीन वर्ष बाद उसके भाई स्तम्भ ने जो स्वयं को विधानतः राष्ट्रकूट साम्राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी मानता था ने खुला विद्रोह कर दिया। स्तम्भ ने 12 राजाओं और सामन्तों, जिनमें पल्लवनरेश दन्तिदुर्ग, वनवासी के सामन्त नोलम्बबाडी सम्मिलित थे, के साथ मिलकर गोविन्द तृतीय पर आक्रमण कर दिया।

गोविन्द ने सामंतों के मध्य फूट डालने के लिए गंगवाड़ी का राजा शिवमार जो ध्रुव के समय में पराजित करके बन्दीगृह में डाल दिया गया था, गोविंद ने उसे मुक्त कर दिया, यद्यपि स्वतन्त्र होते ही वह भी स्तम्भ के सामरिक संघ का सदस्य हो गया। इस संगठन को तोड़ने के लिये गोविन्द ने अपने अनुज इन्द्र को गृहराज्य की शासन व्यवस्था शौंप कर स्वयं, स्तम्भ के विरुद्ध अग्रसर हो गया। इस युद्ध मे स्तम्भ पराजित हुआ एवं बिना कोई दंड दिये गोविंद ने उसे गंगवाड़ी का शासक बना दिया। जिसका परिणाम यह हुआ स्तम्भ, आजीवन गोविन्द के प्रति निष्ठावान हो गया। गोविंद ने गंगवाड़ी के विद्रोही शासक शिवमार को पुनः बन्दी बनाया एवं उसके पश्चात् नोलम्बवाडी को आक्रान्त कर वहाँ के शासक चारूपोन्नेर को बिना किसी शर्त समर्पण के लिए बाध्य कर दिया। अंत मे विद्रोहियों के पूर्णतया दमन के क्रम मे उसने दन्तिदुर्ग के विरुद्ध आक्रमण किया और उसे पराजित किया, एवम 796 ई० तक गोविन्द तृतीय ने

सम्पूर्ण दक्षिणापथ पर अपना अधिकार जमा दिया।

ध्रुव के उत्तरापथ पर आक्रमण के पश्चात निर्वात का लाभ उठाकर धर्मपाल ने कन्नौज पर आक्रमण कर कन्नौज के राजा इंद्रायुध को सत्ता से हटाकर पुनः अपने प्रतिनिधि के रूप में चक्रायुध को कन्नौज के सत्ता पर आसीन कर दिया। धर्मपाल ने अपने प्रभाव को आगे बढ़ते हुए मध्य प्रदेश और पंजाब के सामन्तों को भी अपने अधीन कर लिया। वत्सराज की मृत्य के पश्चात् 790 ई० में उसका पुत्र नागभट्ट द्वितीय सत्ता मे आया। उसने अपने पिता की नीति का अनुसरण करते हुए चक्रायुध को कन्नौज की सत्ता से पदच्युत कर दिया एवं उसकी सहायता के लिए आयी धर्मपाल की सेना को भी पराजित कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप धर्मपाल एवं नागभट्ट द्वितीय का युद्ध अवश्यंभावी हो गया एवं 797 ई० के लगभग मुद्रागिरि (मुंगेर) के पास इनके मध्य युद्ध हुआ।

उत्तर मे गुर्जर प्रतिहारों के बढ़ते प्रभाव को देखकर गोविन्द सतर्क हो गया एवं उसने उत्तरापथ–अभियान की योजना बनायी। राधनपुर दानपत्र और संजनदानपत्र मे बड़े ही विस्तार से उत्तरापथ अभियान का विवरण प्रस्तुत किया गया हैं। इस अभियान का व्याख्यात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए यह उल्लेख किया गया है, कि जैसे 'वसन्त' के आगमन पर वर्षा के बादल छूट जाते हैं, उसी प्रकार गोबिन्द के उत्तरापथ पहुंचने पर गुर्जर वहाँ से हट गए इस भीषण संग्राम में नागभट्ट द्वितीय इस तरह पराजित हुआ कि राधनपुर दानपत्र के शब्दों में स्वप्न में भी युद्ध की कल्पना करके वह मयाक्रान्त हो जाता था।

गोविन्द ने इस युद्ध मे विजय की एक रणनीति बनाई एवं अपने भाई इन्द्र, जो उस समय उसकी ओर से मालवा और गुजरात का शासक था, एवं सामंतों को यह जिम्मेवारी सौपीं कि वह विन्ध्य की ओर से आने वाली गुर्जर सेना का मार्ग अवरुद्ध करे। साथ ही स्वयं एक बड़ी सेना के साथ वह नागभट्ट से युद्ध के लिए उत्तरापथ की ओर बढ़ा एवं उसे बुरी तरह पराजित किया। कुछ इतिहासकारों का यह भी मानना है, कि इस युद्ध के लिए धर्मपाल ने गोविन्द को नागभट्ट के विरुद्ध युद्ध के लिए आमंत्रित किया था। यह युद्ध सम्भवतः झाँसी या ग्वालियर के आस–पास हुआ था। नागभट्ट को पराजित करके उसने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। संजनदानपत्र के अनुसार इस विजय के पश्चात गोविन्द की सेना हिमालय तक पहुँच गयी, यद्यपि इस काव्यात्मक उक्ति का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। नागभट्ट की पराजय के बाद धर्मपाल ने स्वयं भी गोबिन्द के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। जिस समय गोविन्द कन्नौज के अभियान मे व्यस्त था उस समय दक्षिणापथ से उसकी अनुपस्थिति का राजनीतिक लाभ उठाते हुए दक्षिण भारत के राजाओं यथा पल्लव, पाण्डय,

केरल, चोल और गंग राजाओं ने एक सामरिक संगठन बना कर राष्ट्रकूटों पर आक्रमण कर उनकी शक्ति को कमजोर करने की कोशिश की। संभवतः इसी कारण गोविन्द ने उत्तरापथ के किसी भी भाग को न तो प्रत्यक्ष शासन में लिया और न ही उस पर अपना कोई प्रतिनिधि नियुक्त किया। संजन ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि गोविन्द ने इन राजाओं के संघ से तुंगभद्रा के तट पर स्थित रामेश्वरम् तीर्थ पर युद्ध किया एवं सफलतापूर्वक इस संगठन को छिन्न–भिन्न कर दिया। उसने कांची पर आक्रमण कर पाण्ड्य, चोल, केरल नृपों को पराजित किया। तमिल राजाओं के संघ पर विजय से श्रीलंका का राजा इतना भयमीत हुआ कि उसने अपने मंत्री की (मूर्ति प्रतिकृति) बनवाकर गोविन्द तृतीय के पास भेजा।

गोविन्द तृतीय के शासनकाल के अंतिम वर्षों मे राष्ट्रकूटों एवं वेंगी के पारस्परिक राजनीति में बदलाव आया। वेंगी के शासक विष्णुवर्धन् के पश्चात उसका पुत्र विजयादित्य द्वितीय ने सहयोग की नीति का त्याग कर दिया, जिसके कारण गोविंद तृतीय के भ्राता भीम ने वेंगी में उत्तराधिकार का युद्ध छेड़ दिया। गोविन्द ने अपने भाई भीम का साथ दिया एवं विजयादित्य द्वितीय को अपदस्थ कर भीम को पदस्थ कर दिया। वेंगी के विरुद्ध किया गया यह अभियान संभवत उसके जीवन का अंतिम सैन्य अभियान था।

गोविन्द तृतीय अपने समय का सबसे प्रतापी नरेश था। वीरता की दृष्टि से उसकी तुलना अर्जुन से की गयी है। इससे उसे संजनदानपत्र में उचित ही 'कीर्तिनारायण' कहा गया है। इसके अतिरिक्त उसने प्रभूतवर्ष, जगतुंग, जनवल्लभ, कीर्तिनारायण, त्रिभुवनधवल आदि उपाधियाँ धारण की थी। वीरता की दृष्टि से उसकी तुलना अर्जुन से की गयी है। गोविन्द तृतीय ने उत्तरपथ के प्रति अत्यंत व्यावहारिक नीति का पालन करते हुए उसे अपने साम्राज्य मे सीधे तौर पर मिलने का प्रयास नहीं किया एवं अपने सामन्तों को साम, दाम और दण्डनीति के प्रयोग से अपने प्रति जवाबदेह रखा।

गोविन्द तृतीय के जीवनकाल मे ही उसका बड़ा भाई स्तम्भ एवं भीम की मृत्यु हो चुकी थी अतः उसने अपने भाइयों के स्थान पर गंगवाड़ी का शासक कृष्ण के पुत्र दन्तिवमंन् को एवं भीम के पुत्र कर्क को गुजरात एवं मालवा का शासक बनाया। 800 ई० के लगभग गोविन्द तृतीय को पुत्र प्राप्त हुआ था, जो उसके बाद अमोधवर्ष के नाम से विख्यात हुआ। अपने जीवन के अंतिम समय मे उसने भाई भीम के पुत्र कर्क को अपनी राजधानी का संरक्षण प्रदान किया क्योकि अमोघवर्ष उस समय छोटा था। 814 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

बोध प्रश्न 2. गोविन्द तृतीय कि विजयों एवं उपलब्धियों कि व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

7.3.3 अमोघवर्ष प्रथम (814–880 ई०)

गोविन्द तृतीय की मृत्यु के पश्चात 814 ई० में अत्यंत अल्पायु मे अमोघवर्ष ने इन्द्र के पुत्र कर्क सुवर्णवर्ष के संरक्षण मे राष्ट्रकूट सत्ता ग्रहण की। उसका वास्तविक नाम शार्व था और अमोघवर्ष, उसकी अन्य उपाधियाँ– नृपतुङ्ग, रट्टभार्तण्ड, वीरनारायण, और अतिशयधवल थीं। गोविंद तृतीय के तुलना में अमोघवर्ष का राजत्वकाल मे अधिकांश समय अपने राजत्व को बचाने में ही संघर्षरत रहा। 816 ई० के नौसारी ताम्रपत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि इस काल तक उसका शासन शांतिपूर्ण रहा किन्तु 821 ई० के कर्क के सूरत ताम्रपत्र अभिलेख से एवं अमोघवर्ष के संजन ताम्रपत्र लेख से ज्ञात होता है कि उसे शुरुआती कुछ वर्षों के पश्चात् विद्रोह झेलना पड़ा। संभवतः इसका कारण अमोघवर्ष को अल्पवयस्क एवं अपरिपक्व मानकर कुछ राष्ट्रकूट सामंतों, मन्त्रियों, सम्बन्धियों तथा पदाधिकारियों उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

संभवतः इसका कारण मान्यखेट के सामन्तों का कर्क के प्रभाव एवं संरक्षकत्व के प्रति द्वेष भाव था। सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व वेंगी के विजयादित्य द्वितीय द्वारा किया गया क्योकि गोविन्द तृतीय ने वेंगी के पूर्व शासक विजयादित्य को पराजित करके उसके स्थान पर भीम को वेंगी के सिहासन पर बैठा दिया था। इस संघर्ष मे उसका गंगवाड़ी के शासक स्तम्भ के पुत्र शंकरगण ने भी किया क्योकि गोविन्द तृतीय ने उसे अपदस्थ करके शिवमार को उसका शासक बनाया गया था। यह भी सम्भव है कि इस विद्रोह मे उसके परिवार के कुछ सदस्य भी षड्यन्त्र में सक्रिय रहे हों। गोविन्द तृतीय का 'कृतयुग' घोर 'कलिकाल' में बदल गया। संजन ताम्रपत्र लेख से ज्ञात होता है कि उसके पक्षधर मन्त्रीयों एवं अधिकारियों का वध कर दिया एवं उसे राजसिंहासन से हटा दिया जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण साम्राज्य में अशान्ति एवं अराजकता की स्थिति पैदा हो गई।

विजयादित्य द्वितीय ने भीम को हटाकर वेंगी पर अधिकार प्राप्त कर लिया और अमोघवर्ष के विरुद्ध द्वादशवर्षीय संघर्ष छेड़ दिया। संजनदानपत्र अभिलेख से

ज्ञात होता है कि यह संघर्ष बहुत लंबा चला एवं एक समय स्थिति इतनी विपन्न हो गयी कि अमोघवर्ष को मान्यखेट से पलायन करना पड़ा। जिसे संजनदानपत्र में कर्क के लिए 'पातालमल्लश'की उपाधि मिलती है, संभवतः अनेक संघर्षों के बाद कर्क की सहायता से अमोघवर्ष पुनः राजत्व प्राप्त करने मे सफल रहा एवं शांति की स्थापना की। 821 ई० तक उसने कर्क की सहायता से वेंगी को परास्त कर दिया एवं लगभग 845 ई०, तक वेंगी पर अपना प्रभाव स्थापित रख सका।

गंगवाड़ी के शासक शिवमार जिसे गोविन्द तृतीय ने ही पुनः प्रतिष्ठित किया एवं बाद मे उसने उसी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया एवं अंततः गोविन्द तृतीय से युद्ध मे पराजित होकर वह मारा गया था। गंगवाड़ी के शासक शिवमार के मृत्यु के पश्चात उसके पुत्र राजमल्ल ने अमोघवर्ष के विरुद्ध परिस्थिति का लाभ उठाकर गंगवाड़ी को 830–834 ई० के बीच स्वतन्त्र कर लिया। अमोघवर्ष ने कालांतर मे कूटनीति का प्रयोग करते हुए 860 ई० अपनी पुत्री चन्द्रोबलब्बा का विवाह राजमल्ल के पौत्र बूतुग से करके इस वंश के साथ स्थायी शत्रुता का अन्त किया। अपने पिता गोविंद तृतीय की तुलना मे अमोघवर्ष प्रथम काम अधिकांश समय अपने ही साम्राज्य के आन्तरिक विद्रोहों के दमन में व्यतीत होता रहा जिसके कारण संभवतः वह उत्तरपथ की ओर ध्यान न दे सका। दूसरी तरफ गुर्जर प्रतिहार वंश का शासक प्रतीहार नरेश मिहिरभोज ने अपने पूर्वजों के पराभव का बदला चुकाने के लिये तेजी से उत्तरी राष्ट्रकूट भू–भागों पर आक्रमण करना शुरू किया। इस क्रम मे उसने सबसे पहले मालवा राज्य पर आक्रमण करके उसकी राजधानी उज्जैन पर अधिकार कर लिया एवं आगे बढ़ते हुए मिहिरभोज ने नर्मदा नदी तक के भू–भाग को जीतकर काठियावाड़ के शेष भाग पर आक्रमण कर दिया। गुर्जर भूमि की राष्ट्रकूट शाखा का शासक कर्क था, कर्क के पुत्र ध्रुव प्रथम से अमोघवर्ष का संघर्ष हुआ, जिसमें वह मारा गया एवं उसके पश्चात उसके पुत्र अकालवर्ष ने संघर्ष जारी रखा। अकालवर्ष के पश्चात 860 ई० मे उसके पुत्र ध्रुव द्वितीय और अमोघवर्ष का संघर्ष हुआ, यद्यपि बाद में दोनों के मध्य संधि हो गयी। संभवतः संधि के पीछे राजनीतिक कारण रहा होगा क्योंकी प्रतिहार नरेश मिहिर भोज लगातार अपनी शक्ति बढ़ता जा रहा था। इस संधि के परिणामस्वरूप अमोघवर्ष प्रथम एवं ध्रुव की सम्मिलित सेना ने काठियावाड़ के निकट मिहिरभोज की सेना को आगे बढ़ने से रोक दिया था, एवं मिहिरभोज को अपनी सामरिक सफलताओं के रूप में केवल मालवा तथा काठियावाड़ राज्य के कुछ भाग से ही संतुष्ट होना पड़ा।

पालवंशीय लेखों में यह विवरण प्राप्त होता है कि पालवंशीय शासक नारायण

पाल ने किसी द्रविड़ नरेश को पराजित किया था। अल्तेकर तथा मजूमदार ने इस द्रविड़–राजा की पहचान राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम से करना समीचीन मानते है। इनका मानना है कि संभवतः अमोघवर्ष प्रथम वेंगी पर विजय के बाद पूर्वी समुद्रतट की ओर से क्रमशः उड़ीसा एवं उसके पश्चात बंगाल तक पहुँच गया। यद्यपि गौड़ाधिपति नारायण पाल इस काल तक उत्तर भारत की महान् शक्ति के रूप में स्थापित हो चुका था, अमोघवर्ष ने उसे परास्त करने का पुरजोर प्रयास किया। संभवतः पालनरेश को इस युद्ध मे आंशिक सफलता प्राप्त हुई जिसका विवरण पाल अभिलेखों मे मिलता है।

सिरूर तथा नीलगुण्ड के प्रशस्तिकारों का यह कथन कि अमोघवर्ष ने अंग, वंग और मगध पर विजय प्राप्त की जोकि निराधार प्रतीत होती है, क्योंकी इनकी किसी अन्य साक्ष्यों से पुष्टि नहीं हो सकी है। अमोघवर्ष स्वभाव से ही युद्धप्रिय नहीं था, वस्तुतः उसका अधिकांश समय अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य को सुरक्षित रखने मे ही लगा। गंगवाड़ी, गुर्जर प्रतिहार, मालवा एवं वेंगी भी उसके नियन्त्रण में पूरी तरह न रह सका।

यद्यपि किसी शासक की सफलता का मानक केवल उसकी युद्धभूमि में अर्जित सफलताएं ही नहीं हो सकती है, अमोघवर्ष ने लगभग 60 वर्षों तक एक महान प्रजापालक के रूप में सफलता से शासन किया। उसने एक लोक केन्द्रित शासन का उदाहरण प्रस्तुत किया, जिसके परिणामस्वरूप वह भारत के महान शासकों के परम्परा में आता है। संजनदानपत्र में उसकी प्रजावत्सलता की प्रशंसा करते हुए उसकी तुलना शिवि, दधीचि आदि ऐसे महापुरुषों से की गयी है जिन्होंने पर हित में अपना शरीर भी दान कर दिया। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध अवस्था में वह जैन मतावलंबी हो गया था। जिनसेन, जिन्होने आदिपुरण की रचना की वह इसके धर्मगुरु थे, साथ ही 'गणितसार संग्रह' के रचयिता सुप्रसिद्ध गणितज्ञ जैनी महावीराचार्य का भी उसपर गहरा प्रभाव था।

इसके अतिरिक्त अमोघवर्ष स्वयं भी विद्वान् और काव्यशास्त्रज्ञ था। उसने स्वयं 'कविराज मार्ग' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। उसने अपने राज्य मे कई विद्वानों और कवियों को संरक्षण दिया। कन्नड़ साहित्य में उसकी गहरी रुचि एवं स्थान माना जाता है। विद्या और साहित्य के प्रति उसकी रुचि एवं उसके द्वारा दिये गए संरक्षण में उसकी तुलना गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय से की गयी है जैनी होते हुए भी उसने धर्म समन्वय नीति का पालन किया एवं उसने हिन्दू देवी महालक्ष्मी के प्रति अपनो आस्था व्यक्त की। जीवन के अंतिम समय मे उसने अपने को राजत्व से अलग कर लिया एवं अपने एकमात्र पुत्र कृष्ण(कृष्ण द्वितीय) पर राज–भार डाल दिया। 878 ई० में अमोघवर्ष की मृत्यु हो गयी।

बोध प्रश्न 3.

अमोघवर्ष कि विजयों एवं उपलब्धियों कि व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

7.3.4 इन्द्र तृतीय(914–928 ई०)

अमोघवर्ष प्रथम के पश्चात उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय (880–914 ई०) शासक बना, उसे अपने शासन काल में वेंगी के चालुक्य शासक विजयादित्य तृतीय, गुर्जर प्रतिहरों एवं चोलों के साथ युद्ध करना पड़ा। इधर ताम्र पत्र, पोठापुरम–अभिलेख एवं कलचुंबरू अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि विजयादित्य तृतीय ने कृष्ण द्वितीय को निर्णायक रूप से पराजित करके नोलम्बड़ी एवं गंग राज्य पर अधिकार कर लिया था। 888 ई० के बेगुम्रा ताम्रपत्र एवं 914 ई० के इन्द्र तृतीय के बेगुम्रा अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसने प्रतिहार नरेश मिहिरभोज को पराजित किया था। कृष्ण द्वितीय का अपने शासनकाल के अंतिम वर्षों मे दक्षिण की उभरती शक्ति चोलों से युद्ध हुआ जिसका कारण यह था कि वह अपने नाती कन्नरदेव को आदित्य प्रथम के बाद चोल शासक बनाना चाहता था। इसलिए उसने परान्तक चोल पर आक्रमण कर दिया एवं 911 ई० के बल्लालतिरुवल्लेलि के युद्ध मे उसे पराजित होना पड़ा। कृष्ण द्वितीय ने 914 ई० तक शासन किया, करहाड़ एवं देवली ताम्रपत्र लेखों से ज्ञात होता है कि उसके पुत्र जगत्तुंग की मृत्यु इसके शासन काल मे ही हो गयी थी। अतः कृष्ण द्वितीय के पश्चात इन्द्र तृतीय ने सत्ता संभाली, इसके नौसारी दानपत्रों से ज्ञात होता है कि 915 ई० में राज्याभिषेक के पश्चात उसने करुंदक तीर्थ की यात्रा की थी।

इन्द्र तृतीय ने 'नित्यवर्ष', 'रट्टकंदर्प', 'किर्तिनारायण' और 'राजमार्तण्ड' जैसी उपाधियाँ धरण की। अमोघवर्ष और कृष्ण द्वितीय के स्वभाव के विपरीत इन्द्र तृतीय रणज्ञ और युद्धप्रिय था। उसने गोविन्द तृतीय को अपना आदर्श माना एवं पुनः उसने उत्तरपथ अभियान का निर्णय लिया। जिसका तात्कालिक कारण गुर्जर प्रतिहार सामन्त परमारवंशीय उपेन्द्रराज द्वारा नासिक और गोवर्धन् पर आक्रमण एवं उसपर अधिकार करना था जिस पर राष्ट्रकूटों का अधिकार था। उदयपुर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इन्द्र तृतीय ने परमारवंशीय उपेन्द्रराज को पराजित करके गोवर्धन् का उद्धार किया।

उपेन्द्रराज को पराजित कर इन्द्र तृतीय ने उज्जयिनी पर भी अधिकार कर लिया। इस विजय के पश्चात इन्द्र तृतीय ने उत्तर मे सामरिक अभियान का निर्णय लिया, इस समय गुर्जर प्रतिहार वंश में उत्तराधिकार के प्रश्न पर भोज द्वितीय एवं महिपाल मे गृह युद्ध चल रहा था। इस युद्ध मे महिपाल भोज ने चंदेल नरेश हर्ष की सहायता से सत्ता पाने मे सफल रहा एवं उसने भोज द्वितीय जिसे राष्ट्रकूट समर्थित चेदी नरेश कोकल्ल का समर्थन प्राप्त था को पराजित कर दिया। कैम्बे अभिलेख से ज्ञात होता है कि इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर आक्रमण कर उस पर विजय प्राप्त कर लिया। कन्नौज पर अधिकार करके उसने एक बार फिर राष्ट्रकूट गौरव को स्थापित किया। कन्नौज से पराजित होने के पश्चात् महिपाल महोबा की ओर भागा। महिपाल के पीछे इन्द्र तृतीय ने अपने सामन्त सेनापति नरसिह को महोबा भेजा जहां निर्णायक तौर पर महिपाल की पराजय हुई। विजय के पश्चात् राष्ट्रकूट सेना प्रयाग तक पहुँची और फिर मान्यखेट लौट आयी।

उत्तरापथ से लौटने के बाद इन्द्र तृतीय की दृष्टि वेंगी के चालुक्यों पर गयी। इस समय वेंगी का शासक विजयादित्य चतुर्थ था। कलचुंबरू अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि कृष्ण द्वितीय को अपनी पराजय के बाद विजयादित्य तृतीय से वंदना करनी पड़ी थी, इस अपमान का बदला लेने के लिए इन्द्र तृतीय ने वेंगी पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रकूट चालुक्य युद्ध में, आरम्भ में विजयादित्य चतुर्थ को प्रारम्भिक सफलता तो मिली किन्तु युद्ध में वह मारा गया। वेंगी के कुछ क्षेत्र पर राष्ट्रकूट सेना ने कब्जा कर लिया। यद्यपि इस युद्ध का कोई भी उल्लेख राष्ट्रकूट अभिलेखों मे कहीं नहीं मिलता है, अतः यह संभव है कि प्रारम्भिक सफलता के बाद भी राष्ट्रकूटों का स्थायी अधिकार चालुक्यों पर स्थापित नहीं हो सका। इसकी पुष्टि विजयादित्य चतुर्थ की मृत्यु के बाद अम्म प्रथम के स्वतंत्र रूप से शासन करने से भी होती है। इन्द्र तृतीय के शासन के अभिलेख 927 ई० तक मिलते है, संभवतः 928 ई० के अंतिम चरण मे उसकी मृत्य हो गयी।

बोध प्रश्न 4. इन्द्र तृतीय के विजयों एवं उपलब्धियों कि व्याख्या करें। उसने कैसे राष्ट्रकूट सत्ता को पुनर्स्थापित किया?

.....

7.4 राष्ट्रकूट वंश के परवर्ती शासक एवं पतन

इंद्र तृतीय के बाद उसके बेटे अमोघवर्ष द्वितीय (928–929ई.) ने सिंहासन संभाला। इसके पश्चात गोविंद चतुर्थ(930–936ई.) ने सत्ता संभाली

किन्तु वह एक विलासी शासक था, अतः उसके सामंतों ने उसके खिलाफ विद्रोह कर दिया एवं उसको सत्ता से हटा दिया। गोविंद चतुर्थ के बाद 934–35 ई. में अमोघवर्ष तृतीय (936–939ई) को सिंहासन मिला। वह एक सौम्य, शांत और धार्मिक राजा था। अमोघवर्ष तृतीय के पश्चात उसके पुत्र और युवराज कृष्ण तृतीय 939 ई में सत्ता संभाली। कृष्ण तृतीय (939–967ई.) राष्ट्रकूट वंश के प्रतिभाशाली शासकों की शाखा में अंतिम था। उसने मालवा के परमारों, वेंगी के पूर्वी चालुक्यों, तंजौर के चोल शासक परांतक प्रथम को हराया और चोल साम्राज्य के उत्तरी भाग को नष्ट कर दिया। उसकी मृत्यु 966 ई. के बाद राष्ट्रकूटों का पतन तेजी से हुआ, 972 ई. में परमार राजाओं ने मान्यखेट पर आक्रमण करके उसे बुरी तरह से लूटा और जला दिया। इस वंश का अंतिम सम्राट कर्क द्वितीय था, जिसने मात्र दो वर्ष ही राज्य किया। खारेपाटन अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसके सामंत तैलप द्वितीय ने कर्क द्वितीय को पराजित करके राष्ट्रकूट राज्य को अपने अधीन कर लिया।

7.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– उपभाग देखें 7.2 एवं 7.3.1

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– उपभाग देखें 7.3.2

बोध प्रश्न 3.

उत्तर– उपभाग देखें 7.3.3

बोध प्रश्न 4.

उत्तर– उपभाग देखें 7.3.4

7.6 सारांश

बादामी के चालुक्यों के पतन से लेकर कल्याणी के चालुक्य शासक तैलप द्वितीय द्वारा अपनी सत्ता की स्थापना तक लगभग दो शताब्दियों तक राष्ट्रकूटों ने शासन किया। विदेशी यात्रियों ने अपने विवरणों में राष्ट्रकूट साम्राज्य के प्रशासन की प्रशंसा की। इस लंबे अंतराल मे राष्ट्रकूट शासन ने इस भू भाग को स्थायित्व प्रदान किया एवं इस वंश के शासकों ने कला, धार्मिक सदभाव, साहित्य, वास्तुकला एवं कन्नड भाषा को प्रश्र प्रदान किया उसका

भारत की विरासत एवं सामासिक संस्कृति में आज भी एक प्रमुख स्थान है। कृष्ण प्रथम का कैलाश मंदिर एवं एलोरा के गुहा मंदिर वास्तुकला के अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते है। राष्ट्रकूट साम्राज्य हिंदू और जैन धर्म के धार्मिक सद्भाव एवं विकास का समृद्ध काल था। इस युग में, कन्नड़ में बहुत सारे ग्रन्थों की रचना की गयी एवं यह दक्षिण भारत की महत्वपूर्ण भाषाओं में से एक थी।

7.7 शब्दावली

- कन्नड़देश–आधुनिक कर्नाटक।
- पृथ्वीवल्लभ–पृथ्वी का राजा।
- भट्टारकरू–आदरणीय, श्रद्धा या आदर का पात्र।
- गंगवाड़ी–आधुनिक मैसूर का सीमावर्ती भू–भाग।
- गौड़प्रदेश –आधुनिक बंगाल।

7.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अल्तेकर, ए.एस. 1934. राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स, पूना ओरिएंटल बुक एजेंसी।
2. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
3. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
4. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालयः मद्रास।
5. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायरऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
6. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

इकाई– 8 देवगिरि के यादव–भिल्लम एवं सिम्हाना

इकाई की रुपरेखा

8.0 प्रस्तावना

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रारम्भिक इतिहास

8.3 भिल्लम पंचम्

8.4 सिम्हाना –II

8.5 परवर्ती शासक एवं पतन

8.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.7 सारांश

8.8 शब्दावली

8.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.0 प्रस्तावना

देवगिरि के यादव, जिन्हें सेउना राजवंश के नाम से भी जाना जाता है, ने 1187–1317 ई० तक दक्कन क्षेत्र के पश्चिमी भाग पर शासन किया। यह राज्य उत्तर में नर्मदा नदी से लेकर दक्षिण में तुंगभद्रा नदी तक फैला हुआ था। इसमें वर्तमान महाराष्ट्र, उत्तरी कर्नाटक और मध्य प्रदेश के हिस्से शामिल थे। राज्य की राजधानी देवगिरि थी, जो वर्तमान मे औरंगाबाद जिले के स्थित है। कल्याणी के चालुक्यों की शक्ति के पतन के पश्चात् 1150 ई० के लगभग उनके अधीन सामंतों ने स्वयं को स्वतंत्र कर अपनी सत्ता की स्थापना की इसमे देवगिरि के यादव, वारंगल के काकतीय तथा द्वारसमुद्र के होयसल ने उपयुक्त अवसर पाकर अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। परिणामस्वरूप उत्तरी महाराष्ट्र प्रदेश देवगिरि के यादव वंश ने अपना स्वतंत्र शासन स्थापित कर लिया। देवगिरि के यादववंश का स्वतंत्र राजनीतिक प्रभाव 12वीं–13वीं शती दिखाई देता है किन्तु इनका उल्लेख नवीं शती के धारवाड़ जिले से प्राप्त कतिपय अभिलेखों में यादव–सामंतों रूप मे मिलने लगता है। संभवतः, प्रारम्भ मे ये राष्ट्रकूटों के सामन्त थे तथा बाद में पश्चिमी दक्कन पर कल्याणी के चालुक्यों की अधीनता में ये चालुक्यों के सामंत हो गए।

8.1.उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य देवगिरि के यादव राजवंश के इतिहास का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1. देवगिरि के यादव राजवंश के प्रारंभिक इतिहास के बारे में।
2. देवगिरि के यादव राजवंश के महत्वपूर्ण शासक भिलम्म एवं सिम्हाना एवं उनकी राजनीतिक उपलब्धियों के विषय में।
3. देवगिरि के यादव राजवंश के पतन के कारणों के संदर्भ मे।

8.2 प्रारम्भिक इतिहास

रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इनकी उत्पत्ति महाराजपति के पुत्र यदु से बताई गयी है। जबकि हेमाद्रिकृत चतुर्वर्ग चिन्तामणि (1260–1270 ई०) एवं 13वीं शती के मराठी संत कवि ज्ञानेश्वरकृत भगवत्गीता की मराठी टीका में इन्हे चन्द्रवंशी क्षत्रिय बताया गया है। इनके अधिकांश अभिलेख कन्नड़ भाषा में है साथ ही यादव शासकों के विरुद् जैसे 'कर्नाटक राजवंशाभिराम' तथा नामकरण भिल्लम, दाडिप्प, राजुगि, वासुगि एवं वड्डिग आदि के आधार पर हैं जिसके आधार पर पी. बी. देसाई का मानना है कि ये मूलतः कन्नड देश के निवासी थे। दूसरी तरफ डॉ० आर० जी० भण्डारकर तथा सी० वी० वैद्य इन्हे मराठा क्षत्रिय मानते हुए इन्हे मूलतः महाराष्ट्र प्रान्त के निवासी मानते है। जिन्होंने अपने राजसत्ता प्राप्ति के बाद वे अपने वंश को गौरव प्रदान करने के लिए अपना मूल स्थान मथुरा एवं द्वारिका के प्रसिद्ध यादव वंश से जोड़ लिया।

यादव राजवंश के संस्थापक–शासक के रूप मे दृढ़प्रहार को माना जाता है। डॉ० अल्तेकर के अनुसार दृढप्रहार का संभावित काल 860 ई० के लगभग था यह वही समय था जब मान्यखेट पर राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम का शासन था। संभवतः जिस समय अमोघवर्ष प्रथम विद्रोहों एवं प्रतिहार शासक भोज प्रथम के साथ चल रहे संघर्ष मे व्यस्त था दृढप्रहार ने पहले काठियावाड़ क्षेत्र में एवं बाद मे नासिक से लगभग 42, मील दूर उत्तर–पूर्व की ओर चन्द्रादित्यपुर (वर्तमान चन्दोरनगर, जनपद नासिक) अपना प्रभाव स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली। संभवतः इन विजयों के बाद दृढप्रहार की हैसियत एक वीर योद्धा के रूप स्थापित हो गयी किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी वह सामंत शासक का दायित्व प्राप्त नहीं कर सका था।

देवगिरि के प्रसिद्ध यादव वंश को सर्वप्रथम सामंतीय सत्ता दिलाने का श्रेय दृढप्रहार के पुत्र सेउणचन्द्र प्रथम को जाता है जिसने प्रतिहारों के विरुद्ध राष्ट्रकूटों को अपनी सामरिक सहायता प्रदान कर एक शक्ति के रूप मे स्वीकृति प्राप्त की। सेउणचन्द्र प्रथम के पश्चात् 890 ई० से लेकर 1120 ई० के मध्य दाढ़ियप्प, भिल्लम प्रथम तथा राजिरा, भिल्लम द्वितीय, बेसुगि, भिल्लम तृतीय, यादुगी, भिल्लम चतुर्थ, सेउणचन्द्र द्वितीय, ऐरामदेव, सिंहराज, आदि ने सामंत शासक के रूप मे राज्य किया। यादव वंश को एक सामंत राज्य से एक स्वतंत्र राज्य एवं गौरवपूर्ण राज्य के रूप मे स्थापित करने का श्रेय भिल्लम पंचम् को जाता है।

कल्याणी मे अपनी पराजय का बदला लेने के लिए शीघ्र ही वल्लाल ने अपनी सैनिक क्षमता को संगठित करके दक्षिणी चालुक्य राज्य पर आक्रमण कर दिया। कल्याणी पर पुनः प्रभुसत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम होयसल सेना ने बीजापुर एवं धारवाड़ पर आक्रमण किया। भिल्लम ने होयसल नरेश को रोकने के लिए एक विशाल सेना लेकर धारवाड़ जनपद के गदग स्थल पर आ डटा, इसका उल्लेख गदग अभिलेख में भी मिलता है।

यादव सेनाओं एवं होयसलों के बीच यह युद्ध धारवाड़ के निकट सोरतुर के मैदान में हुआ। होयसल नरेश पूर्ण रूप से विजयी रहा एवं एरंबर (हैदराबाद राज्य में स्थित चेतनुर्ग), कुररुगोद (वेल्तान के निकट स्थित स्थान), गुत्ति (वेल्लारी से लगभग 50 मील पूर्व में दूर स्थित) तथा रंगल आदि यादव राजवंश के किलों पर अधिकार कर लिया भिल्लम की सेना को मालप्रभा और कृष्णा नदी के पार खदेड़ दिया इस घटना की ऐतिहासिक पुष्टि 1192 ई० के बल्लाल द्वितीय के गदग अभिलेख से होती है। 1198 ई० के बेतूर–अभिलेख से ज्ञात होता है कि बल्लाल द्वितीय ने युद्ध मे भिल्लम पंचम को मार दिया था, यद्यपि प्रो० अनन्त सदाशिव अल्तेकर इसे सत्य न मानते हुए अतिशयोक्तिपूर्ण मानते है किन्तु वह मानते है कि संभवतः पराजित होने के बाद वृद्ध भिल्लम 1191 ई० में दिवगंत हो गया।

भिल्लम पंचम्, देवगिरि के यादव वंश का महान शासक था, जिसने इसे एक सामंत राज्य से स्वतंत्र राज्य के रूप मे स्थापित किया। अपने पौरुष एवं कूटनीति के बल पर उसने अपना राज्य उत्तर मे नर्मदा घाटी से लेकर दक्षिण मे कृष्णा नदी घाटी तक विस्तृत किया। उसके प्रभाव का आकलन इससे भी किया जा सकता है की सोरतुर के युद्ध मे पराजय के बाद भी वल्लाल ने कृष्णा नदी पर जाकरके उसके राज्य मे आक्रमण करने का साहस नहीं किया। उसने परमे''वर, महाराजाधिराज एवं परमभट्टारक प्रभृति उपाधियों को धारण किया था।

8.3 भिल्लम पंचम्

देवगिरि के यादव राजवंश को सामंत राज्य से स्वतंत्र राज्य के रूप मे स्थापित करने का श्रेय भिल्लम पंचम को दिया जाता है। भिल्लम पंचम् ने अपने साहस एवं कुशलता से समकालीन दक्षिणापथ की राजनीतिक परिस्थितियों को बड़ी ही चतुराई से लाभ लिया। डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दक्षिण भारत की राजनीतिक अनिश्चितता ने भिल्लम पंचम की महत्त्वाकांक्षा को सम्राट् स्तर तक पहुँचने मे स्पष्ट रूप से मदद किया। आपस मे संघर्षरत कल्याणी के चालुक्य शासक सोमेश्वर चतुर्थ, कलचुरियों तथा होयसलों के घटती शक्ति का फ़ायदा निश्चित तौर भिल्लम पंचम् ने उठाया। महाकवि हेमाद्रि ने इसकी विजयों का बड़ी ही विस्तार से वर्णन किया है यद्यपि यह विवरण पूरी तरह से ऐतिहासिक नहीं है। कल्चुरियों के घटती शक्ति का लाभ उठाते हुए भिल्लम पंचम ने अपनी राजनीतिक उपलब्धियों हेतु, कोंकण तथा मध्य महाराष्ट्र के बीच अवस्थित राज्यों पर सफल अभियान किया। दूसरी तरफ भिल्लम पंचम ने अपने पैतृक राज्य (सेउणदेश) पर आक्रमण करके अपने वंश के शासको को परास्त करके उस पर अपना अधिकार कर लिया। इसका विवरण हेमाद्री ने भी किया है।

डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार, दक्षिण की ओर से कोई विशेष खतरा न होने के कारण, क्योंकि उस समय कल्याणी के चालुक्य एवं कलचुरि न केवल परस्पर संघर्षरत थे अपितु आंतरिक रूप से भी कमजोर थे, भिल्लम पंचम् ने सर्वप्रथम गुजरात एवं मालवा की विजय के लिए अभियान किया। गुजरात मे उस समय मूलराज द्वितीय शासन कर रहा था जो उम्र मे बहुत छोटा था उसे राज्य शासन का कोई अनुभव नहीं था। जिसका लाभ उठाते हुए परमार–नरेश, विन्ध्यवर्मन् गुर्जरों से मालवा पर अधिकार कर लिया था। अंततः भिल्लम पंचम ने दोनों राज्यों के बीच व्याप्त राजनीतिक वैमनस्य का लाभ उठाया। 1189 ई० के मुतुगि अभिलेख मे भिल्लम पंचम् को 'मालवों के सिर का प्रचण्ड दर्द' तथा 'गुर्जर रूपी हंसों के समूह के लिए घन–गर्जन' बताया गया है, इसके साथ ही उसे अंग, वंग, नेपाल और पंचाल के नृपतिगणों को पराजित करने का श्रेय भी प्रदान किया गया है, जोकि यह अन्य ऐतिहासिक तथ्यो से प्रमाणित नहीं होता है। यद्यपि भिल्लम पंचम् को इन राज्यों पर विजय से कोई विशेष क्षेत्रीय लाभ नहीं हुआ, फिर भी इन अभियानो से उसे अप्रतिम आत्म–विश्वास प्राप्त हुआ जिसका लाभ उसे निश्चित तौर पर दक्षिण में अपने साम्राज्य विस्तार मे मिला होगा। जिस समय भिल्लम पंचम गुजरात और मालवा से व्यस्त था उस समय दक्षिण मे होयसल शासक वल्लाल तथा चालुक्य शासक

सोमेश्वर चतुर्थ के आक्रमणों के कारण कलचुरि राज्य को पूरी तरह से शक्तिहीन कर दिया था। इसी बीच होयसल शासक बल्लाल ने कल्याणी के चालुक्यों की पतन होती शक्ति का लाभ उठाते हुए, कल्याणी नरेश सोमे"वर चतुर्थ पर आक्रमण कर दिया। परिस्थिति को अनुकूल जानकार भिल्लम पंचम् ने उत्तर की ओर से सोमेश्वर चतुर्थ के विरुद्ध अभियान चलाकर चालुक्य दुर्ग लिङ्गसुबूर, तरडगडिनाड, बेलबोला, किसुकाड़नाड पर अपना अधिकार कर लिया था। 1189 ई० के अष्णिगेरे अभिलेख मे भिल्लम के लिए 'कर्णाट श्रीबल्लभ' विरुद का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है कर्नाटक राजलक्ष्मी का प्रिय, अतः यह माना जा सकता है भिल्लम पंचम् कर्नाटक पर उसका अधिकार हो चुका था।

सोमे"वर चतुर्थ ने इस प्रतिरोध मे सबसे पहले होयसलों की सेना को रोकने का निश्चय किया किन्तु होयसल घुड़सवारों ने चालुक्य सेना को तितर–बितर कर उन्हे बुरी तरह पराजित कर दिया। सोमे"वर चतुर्थ ने कल्याणी को छोड़कर प्राण बचाने के लिए जयिंतपूर तथा बनवासी को राज्य शासन का केन्द्र बनाया। राजधानी कल्याणी पर होयसल बल्लाल के अधिकार को लेकर निश्चित तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि अल्तेकर का मानना है कि बल्लाल ने कल्याणी पर अधिकार कर लिया था एवं इसके फलस्वरूप चालुक्य नृपति, सोमेश्वर, को अपनी पूर्व राजधानी से जाकर बसना पड़ा था। होयसल बल्लाल के कल्याणी पर अधिकार को लेकर भले ही शंसय हो किन्तु यह निश्चित है कि कल्याणी ज्यादा समय तक उसके अधिकार मे नहीं थी।

होयसल सेना कल्याणी पर अधिकार करने के क्रम मे सफल रही, किन्तु युद्धों के कारण उसकी शक्ति कमजोर हो चुकी थी। संभवतः जिसका लाभ उठाकर भिल्लम पंचम् ने कल्याणी के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। परिणामस्वरूप होयसल शासक को अपनी राजधानी द्वारसमुद्र लौटना पड़ा। हेमाद्रि के अनुसार कल्याणी पर विजय के क्रम मे होयसल शासक मारा गया था। परन्तु डॉ० अल्तेकर का मत है कि यह होयसल शासक बल्लाल के सम्बन्ध में स्पष्ट तौर पर मान्य नहीं है, ऐसा हो सकता है कि इस युद्ध मे कोई होयसल राजकुमार मारा गया हो। भिल्लम ने 1187 ई० में एक नवीन संवत् शुरू किया, जिसे डॉ० अल्तेकर कल्याणी के युगान्तकारी विजय से जोड़ते हैं। होयसल नरेश, बल्लाल अपनी इस पराजय के पश्चात् पुनः अपनी शक्ति को संकेंद्रित करने लगा एवं कुछ ही वर्ष पश्चात, एक अभिलेख के अनुसार दक्षिण चालुक्य राज्य पर आक्रमण करके 1189 ई० तक वनवासी एवं नोलाम्ब्वाड़ी पर अधिकार कर लिया। भिल्लम पंचम्, होयसलों के बढ़ते प्रभाव को ध्यान मे रखते हुए अपनी सैन्य तैयारी कर रहा था जिसकी परिणति धारवाड़ के निकट सोरतुर मे युद्ध के

रूप मे हुई। इस युद्ध मे निर्णायक रूप से भिल्लम पंचम् की पराजय हुई जिसके परिणामस्वरूप एरंबार, कूररुगोद, गुत्ति तथा हंगल जैसे महत्वपूर्ण यादव शासित दुर्गो पर होयसलों ने अधिकार कर लिया। इस युद्ध के पश्चात् होयसलों एवं यादवों के मध्य मालप्रभा एवं कृष्णा नदी सीमा के रूप मे स्वीकार कर ली गयी। इसकी घटना की ऐतिहासिक पुष्टि 1192 ई० के वल्लाल ले गदग अभिलेख से भी होती है। एक अन्य 1198 ई० होयसल अभिलेख, वेल्लोर–अभिलेख मे यह विवरण मिलता है कि इस युद्ध मे यादव शासक की मृत्यु हो गयी थी, किन्तु डॉ० अल्तेकर इस विवरण को अतिशयोक्तिपूर्ण मानते हैं। उनका मानना है कि यदि इस युद्ध मे भिल्लम पंचम् यदि मारा गया होता तो निश्चित तौर पर इस अभिलेख मे उसका विवरण होता। यद्यपि यह संभव है कि इस युद्ध मे पराजित होकर भिल्लम पंचम पूरी तरह से टूट गया एवं कुछ ही समय पश्चात 1191 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।

भिल्लम पंचम्, यादव वंश का निर्विवादित रूप से सबसे योग्यतम शासक था जिसने देवगिरि के यादवों को एक सामंत राज्य से उठाकर एक स्वतंत्र राज्य के रूप मे स्थापित किया। अपने पराक्रम एवं कूटनीति के बल पर उस समय कि दक्षिण भारत की सबसे शक्तिशाली शक्तियों यथा होयसल, कलचूरी और चालुक्यों को उसने पराजित करके आपने साम्राज्य को न केवल महाराष्ट्र अपितु गुजरात एवं मालवा तक विस्तृत किया। उसकी शक्ति का अंदाजा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि सोरतुर की पराजय के बाद भी बल्लाल ने कृष्णा नदी पर जा करके उस पर आक्रमण नहीं किया।

बोध प्रश्न 1.

देवगिरि के यादव राजवंश के प्रारम्भिक इतिहास की व्याख्या करें साथ ही इस वंश के शासक भिल्लम पंचम् की उपलब्धियों का वर्णन करें।

उत्तर.....

.....

.....

.....

8.4 सिम्हाना

सिंहण द्वितीय (लगभग 1210 1247 ई० तक)

भिल्लम पंचम् के पश्चात् लगभग 1191 ई० मे जैतुगि ने यादव वंश की सत्ता संभाली, इसके कई अभिलेख एवं हेमाद्रि कृत चतुर्वर्गचिंतामणि से उसके

राज्यकाल के संदर्भ मे विस्तार से जानकारी मिलती है। इसने अपने राज्यकाल मे पूरा ध्यान अपनी सेना एवं प्रशासन को संगठित करने मे लगाया। जैतुगि ने अपने साम्राज्य के विस्तार के क्रम मे काकतीय राज्य पर आक्रमण कर उसके राजा रुद्र को युद्ध भूमि मे मार डाला एवं बाद मे काकतीय वंश के गणपति को इस शर्त पर शासन सत्ता सौंप दी कि वह सामंत के रूप मे राज्य करेगा। जैतुगि के मंगोलि अभिलेख मे इसकी विजयों का व्यापक वर्णन मिलता है, किन्तु जिन राज्यो पर उसमे विजय बताई गयी है उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। इसी के शासन के अंतर्गत 1197 ई० मे कुतुबुद्दीन ऐबक ने यादव साम्राज्य पर आक्रमण किया था।

जैतुगि के पश्चात उसके पुत्र सिंहण द्वितीय ने यादव वंश की सत्ता संभाली, इससे पूर्व भी वह लगभग एक दशक तक युवराज के तौर पर अपने पिता का शासन संचालन मे योगदान दे रहा था। जिसके कारणवश उसे सैनिक संगठन एवं प्रशासानिक कार्यों का पूर्ण अनुभव हो चुका था। उसने प्रधान सेनापति के रूप में काकतीयों एवं होयसलों के विरुद्ध हुए संघर्षो मे अपना रणकौशल एवं कुशलता का परिचय दिया था। यादव राजवंश के इतिहास मे सिंहण को सर्वाधिक शक्तिशाली नृपति माना जाता है। राजत्व प्राप्त करने के पश्चात सिंहण द्वितीय सर्वप्रथम होयसल नरेश, बल्लाल, से सोरतुर के युद्ध में अपने दादा की पराजय का बदला लेने का निर्णय किया। इस क्रम मे सिंहण ने कृशकाड जनपद के होयसल सामंत विक्रमादित्य पर आक्रमण करके अपने पक्ष में मिला लिया। दुर्भाग्यवश इसी समय, अर्थात् 1211 ई० में हानुंगल, के कदम्ब नरेश कामदेव ने भी विद्रोह कर दिया, जिसके कारण होयसलों का राजनीतिक संकट और गहरा गया। जिसका लाभ लेकर यादव नरेश सिंहण तथा उसके सेनापति वीचण ने बल्लाल राज्य पर जोरदार आक्रमण कर दिया तथा क्रमश अवन्तपुर, बेल्लारी, चित्तल दुर्ग तथा शिमोगा जनपदों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

होयसल राजा बल्लाल द्वितीय ने सिंहण की सेना को रोकने के लिए बदलिके नामक स्थल पर मोर्चा संभाला किन्तु सिंहण ने सान्तलिगे तथा बनवासी को जीतकर होयसलों को बुरे तरह से पराजित कर दिया। इसके बाद भी उसने अपने अभियान को बढ़ाते हुए होयसल राजधानी, द्वारसमुद्र, को रौंद दिया एवं कावेरी नदी को पार करके श्रीरंगपट्टम् राज्य को आक्रान्त कर दिया। लगभग 1215 ई० तक सिंहण के नेतृत्व मे संपूर्ण बनवासी क्षेत्र यादव साम्राज्य का अंग बन चुका था एवं उसने होयसलों की शक्ति को पूरी तरह से कुचल दिया था। होयसल – नरेश, बल्लाल द्वितीय द्वारा धारण की जाने वाली उपाधि 'शनिवार

सिद्धि' उपाधि सिंहण ने धारण की जो उसकी विजय को प्रमाणित करती है।

सामरिक विजय के अगले चरण मे सिंहण अपना अभियान लगभग 1215 ई० मे कोल्हापुर के कल्याणी के चालुक्यों के शक्तिशाली सामन्त शिलाहार वंशीय शासक, भोज द्वितीय, के विरुद्ध किया। शिलाहार वंशीय शासक, भोज द्वितीय ने लगभग दो वर्षों तक अपनी राजधानी को बचाने के लिए संघर्ष किया किन्तु अंतिम मे पराजित होकर कोल्हापुर से भागकर पनलि (पनहाला) के दुर्ग शरण लेनी पड़ी। इस ऐतिहासिक घटना का उल्लेख धारवाड़ से प्राप्त एक अभिलेख तथा 1232 ई० के रामचन्द्र के शासनकाल में जारी पुरुषोत्तमपुरी ताम्रपत्रों से भी प्राप्त होता है।

इसी क्रम मे सिंहण की शक्तिशाली सेना के सामने कई छोटे–मोटे राज्यों के बिना युद्ध किए ही आत्मसमर्पण कर दिया, जिसमे मल्लट (रायचूर जनपद) के हैह्य राजा ने उसका सामन्त के रूप मे कार्य करना स्वीकार कर लिया। सिंहण ने अपने सैन्य अभियान के क्रम मे लाट पर आक्रमण किया। लाट राज्य का शासक चाहमान राजासिंह मालवा नरेश परमार अर्जुनवर्मन् का सामन्त था। मालवा के परमार तथा गुजरात के परमार राजवंशों की शक्ति इस समय कमजोर हो चुकी थी जिसका फायदा सिंहण ने उठाया एवं 1220 ई० के सिंहण ने अपने सेनापति, खोलेश्वर, लाट राज्य पर आक्रमण के लिए भेजा जिसमे उसने सफलतापूर्वक विजय प्राप्त कर लिया। इस युद्ध में लाट शासक राजसिंह तथा उसका भाई सिन्धुराज युद्धभूमि में मारा गया एवं सिन्धुराज का पुत्र संग्रामसिंह को बंदी बना लिया एवं बाद मे उसे सामंत के तौर पर राज्य वापस कर दिया।

लाट का सामंत संग्रामसिंह लाट–राज्य के प्रसिद्ध बन्दरगाह, केंबे, पर अपना आधिपत्य करना चाहता था। चालुक्य नरेश लवणप्रसाद उक्त बन्दरगाह पर अपना कब्जा करना चाहता था, इसलिए उसने कूटनीतिज्ञ तरीके से सिंहण एवं मालवा–नरेश, देवपाल के मध्य समझौता कराकर संयुक्त रूप से अभियान का निर्णय लिया। इस युद्ध में यादव–सेना का नेतृत्व खोलेश्वर ने तथा लाट–राज्य की सेना का नेतृत्व स्वयं संग्रामसिंह ने किया। कीर्तिकौमुदी 'हम्मीरमर्दन' तथा 'लेखापद्धति'जैसे ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि यादव सेना से यहाँ भीषण आक्रमण किया किन्तु अंततः इनके मध्य समझौता हो गया। विजय की स्थिति मे समझौता का क्या कारण हो सकता है निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता। ए० के० मजूमदार का मानना है कि संभवतः काकतीयों ने सिंहण की अनुपस्थिति में यादव–साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया, जिसके कारण अभियान के मध्य मे संधि करनी पड़ी।

सिंहण ने अपनी साम्राज्यवादी नीति को आगे बढ़ते हुए उसने कम से कम चार बार गुर्जरों पर आक्रमण किया था। उसका अन्तिम अभियान 1239 ई० मे जिसका नेतृत्व उसके सेनापति खोलेश्वर के वीर पुत्र राम तथा लाट के सामंत संग्राम सिंह द्वारा किया गया वहीं दूसरी तरफ लवणप्रसाद का नाती तथा वीर धवल का पुत्र, वीसलदेव ने मोर्चा संभाला। नर्मदा के तट पर यह युद्ध हुआ, यद्यपि समस्या यह ही कि जहाँ यादव अभिलेख इस युद्ध मे उनको विजयी बताते हैं वहीं गुजरात से प्राप्त एक अभिलेख से गुर्जरों के विजय का उल्लेख मिलता है। डॉ.ए.एस.अल्तेकर का मानना है कि संभवतः यह युद्ध अनिर्णीत रहा होगा, एवं नर्मदा नदी को दोनों के मध्य की सीमा के रूप मे स्वीकार कर लिया गया होगा। इन अनिर्णायक एवं अनवरत युद्धो का परिणाम यह हुआ कि इन्होंने आपस मे लड़कर अपनी शक्ति को समाप्त कर लिया जिसका परिणाम यह हुआ,कि जब मुस्लिम शासको का आक्रमण हुआ तो ये अभी एक जुट न हो पाये और उनके सामने एक एक करके पराजित होते चले गए।

भोज के एकाम्रनाथ अभिलेख और गणेश्वर अभिलेख से ज्ञात होता है कि काकतीयों और यादवों के मध्य संघर्ष हुआ जिसमे काकतीयों को सफलता मिली। यादव नरेश, जैतुगि, ने अपने शासन काल में काकतीयों को पराजित कर उसके शासक, गणपति को बन्दी बना लिया था एवं उसके बाद उसने उसे अपना महामण्डलेश्वर बना लिया था। गणपति ने राज्य की प्राप्ति के उपरान्त यादवों के प्रति अपनी निष्ठा बनाए रखी संभवतः बाद के वर्षो में गणपति ने अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयास किया जिसके कारण संघर्ष हुआ। यद्यपि डॉ.ए. एस.अल्तेकर का मानना है कि काकतीयों एवं यादवों के मध्य कोई विशेष महत्वपूर्ण संघर्ष नहीं हुआ था।

यादव अभिलेखों के अनुसार सिंहण के राज्यकाल में यादव–सेना ने सिंध, पांचाल, बंगाल, बिहार, केरल, पाण्ड्य, पर्णखेट (बरार का एक भाग), वाराणसी और मथुरा के शासकों को पराजित किया था। यद्यपि अन्य साक्ष्यों से इसकी पुष्टि नहीं होती है, फिर भी यादवों के अभिलेखो के प्राप्ति स्थान के आधार पर यह माना जा सकता है कि इनका अधिकार कोंकण, लाट, महाराष्ट्र, विदर्भ, कर्नाटक तथा आन्ध्र राज्य के भू–भागों तक अवश्य विस्तृत था।

सिंहण एक वीर योद्धा तथा महान् साम्राज्य–निर्माता के साथ–साथ संगीत तथा साहित्य में गहरा अनुराग था। वह साहित्य, संगीत एवं कला का संरक्षक तथा स्वयं सुसंस्कृत शासक था। उसके संरक्षण मे सारंगदेव ने 'संगीत रत्नाकर' की रचना की थी एवं सिंहण ने इस महान् कृति की टीका की थी। 1246 ई० में मृत्यु के समय उसकी आयु लगभग 70 वर्ष थी इवान उसने लगभग 37 वर्षों

तक राज्य किया था।

बोध प्रश्न 2. सिंहण द्वितीय के उपलब्धियों का विस्तार से वर्णन करें।

उत्तर.....

.....

.....

.....

8.5 परवर्ती शासक एवं पतन

सिंहण द्वितीय के पश्चात उसका पौत्र कृष्ण(1246 ई०–1260 ई०), महादेव(1260 ई०–1270 ई०), अम्म्ण(1270 ई०– 1271 ई०) तक राज्य किया। 1271 ई० मे रामचन्द्र ने अम्म्ण को बंदी बना लिया एवं राज्य पर अधिकार कर लिया। रामचन्द्र, कृष्ण का पुत्र था जिसे महादेव के बाद उत्तराधिकार मिलना था किन्तु महादेव ने रामचन्द्र के स्थान पर अम्म्ण को सत्ता सौप दी जिसके परिणस्वरूप रामचन्द्र ने प्रांतपति एवं मंत्रियों के सहयोग से सत्ता पर अधिकार कर लिया। रामचन्द्र, देवगिरि के यादव वंश का अंतिम शक्तिशाली शासक था जिसने मालवा एवं गुर्जर राज्य पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की। इसके पश्चात् उसने होयसलों पर भी आक्रमण किया किन्तु, उसमें विशेष सफलता नहीं मिली। रामचंद्र के पुरुषोत्तमपूदि ताम्रपत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसने वाराणसी एवं प्रयागराज तक आक्रमण कर मुस्लिम सेना को पराजित किया था। यद्यपि डॉ.ए. एस. अल्तेकर इन विजयों को काव्यात्मक अधिक ऐतिहासिक कम मानते है। रामचन्द्र पर सबसे प्रभावी आक्रमण अलाउद्दीन ने किया जिस समय वह दक्षिण के अन्य राज्यों के साथ व्यस्त था जिसके कारण अंतत उसे पराजित होना पड़ा एवं संधि के लिए बाध्य होना पड़ा। रामचंद्र के पश्चात् शंकरदेव(1311–1312 ई०) तथा हरपाल देव (1315–1318 ई०) तक राज्य किया जिसे 1318 ई० मे कुतुबुद्दीन मुबारकशाह ने पूरी तरह से समाप्त कर दिया।

8.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– देखें उपभाग 8.2 एवं 8.3

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– देखें उपभाग 8.4

8.7 सारांश

देवगिरि के यादवों का राजवंश 850 से 1318 ई० तक चला। इस राजवंश ने अपने चरमोत्कर्ष पर तुंगभद्रा से लेकर नर्मदा तक के भूभाग पर शासन किया था। इस वंश के महान् शासक भिल्लम पंचम्, सिम्हाना जैसे शासको ने न केवल साम्राज्य विस्तार किया अपितु, इसके साथ–साथ सांस्कृतिक क्षेत्र मे भी कई कीर्तिमान रचे। इस वंश के अंतर्गत संस्कृत, कन्नड़ एवं मराठी का शासक्त विकास हुआ, यहाँ तक की मराठी को इस वंश ने अपनी आधिकारिक भाषा के रूप मे स्थान दिया। इस काल मे निर्मित गोण्डेश्वर मंदिर अपने वास्तु कौशल के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

8.8 शब्दावली

- साम्राज्यवादी –साम्राज्य के प्रभुत्व का विस्तार
- नृपति –राजा/ शासक
- लाट–राज्य– वर्तमान का गुजरात क्षेत्र

8.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास,शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालयः मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

इकाई– 9 द्वारसमुद्र के होयसल राजवंश

इकाई की रुपरेखा

9.0 प्रस्तावना

9.1. उद्देश्य

9.2 प्रारम्भिक इतिहास

9.3 महत्वपूर्ण शासक एवं पतन

9.4 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.5 सारांश

9.6 शब्दावली

9.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

9.0 प्रस्तावना

होयसल राजवंश दक्षिण भारत के इतिहास में सबसे उल्लेखनीय और स्थायी साम्राज्यों में से एक था। 10वीं शताब्दी में अपनी उत्पत्ति के साथ, इस राजवंश ने भारत के दक्षिणी उपमहाद्वीप के इतिहास मे अपनी सांस्कृतिक धरोहर के माध्यम से एक अमिट छाप छोड़ी। होयसल राजवंश का इतिहास वीरता, संस्कृति और वास्तुकला कौशल का इतिहास है।

9.1.उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य द्वारसमुद्र के होयसल राजवंश के इतिहास का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1. द्वारसमुद्र के होयसल राजवंश के प्रारंभिक इतिहास के बारे में।
2. द्वारसमुद्र के होयसल राजवंश के महत्वपूर्ण शासक एवं उनकी राजनीतिक उपलब्धियों के विषय में।
3. द्वारसमुद्र के होयसल राजवंश के शासन के पतन के संदर्भ मे।

9.2 प्रारम्भिक इतिहास

प्राचीन भारतीय राजवंशो की ही तरह इस राजवंश की उत्पत्ति को लेकर

इतिहासकारों मे मतभेद है, होयसल अभिलेखों से जानकारी मिलती है कि इस वंश का प्रथम शक्तिशाली पुरुष साल अथवा शाल नामक व्यक्ति, जिसका एक और नाम नृपकाम था। होयसल अभिलेखों में ये स्वयं को यदु का वंशज बताते हुए चन्द्रवंशी क्षत्रिय मानते है। इनके अभिलेखों में कई बार 'यादवकुलतिलक' विरुद् का प्रयोग किया गया है। इस साथ ही इस कुल के कई राजाओं द्वारा 'द्वारावती पुरवराधी''वर'उपाधि धारण की गयी, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः ये यादव वंश की एक शाखा रहे होंगे। प्रारम्भ मे ये काँची के चोल एवं पूर्वी चालुक्य राजवंशों के सामन्त थे। इनकी प्राथमिक राजधानी वेलूर (वेलापुर) थी, शासन के बाद के काल मे इसे स्थान्तरित कर द्वारसमुद्र (हालेविड) स्थान्तरित कर दिया गया। संभवतः यह राष्ट्रकूट नरेश, कृष्ण तृतीय के शक्तिशाली सामन्त के रूप मे सिरिकुट के युद्ध में नोलम्बों से युद्ध कर चुका था। इसके अतिरिक्त साल ने चोल सामंत अपरमेय से भी युद्ध किया था जिसमे उसे सफलता नहीं मिली। साल के विजय अभियानों में गंगवाड़ी पर विजय विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसने लगभग 1047 ई० तक वेलूर पर राज्य किया।

1047 ई० में होयसल राजगद्दी पर विनयादित्य (1047ई. से 1098ई.) आसीन हुआ, इसने होयसलों को संगठित कर उसके राजवंशीय गौरव को बढ़ाया। होयसल गरेश विष्णुवर्धन् के 1137 ई० के अभिलेख से उसके राज्य की सीमा कोंकण, आलवखेड़ा, वैयलनाड़, वयलखेड़ा, तलकाड एवं साविमलै जनपद तक फैला हुआ था। जो गंगवाड़ि राज्य की सीमा से लगी हुई थी जिसके लिये चालुक्यों एवं चोलों में युद्ध था। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य ने चोलों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिये वैवाहिक संबंध स्थापित किए। विनयादित्य की बहन अथवा पुत्री का विवाह चालुक्य नृपति, सोमेश्वर प्रथम के साथ सम्पन्न हुआ था। यह संबंध सोमेश्वर प्रथम तक बहुत अच्छा रहा किन्तु उसके मृत्यु के उपरान्त जब सोमे''वर द्वितीय तथा विक्रमादित्य षष्ठ के उत्तराधिकार युद्ध के बाद खराब हो गया। यही कारण रहा कि 1093 ई० में परमार नृपति जगद्देव, ने जब होयसलनाडु पर आक्रमण किया तो चालुक्य–सेना ने इस युद्ध में होयसलों की सहायता नहीं की।

इसके पश्चात् क्रमशः एरेयंग (1098 ई० से 1102 ई०), बल्लाल प्रथम (1102 दृ 1108 ई०), विष्णुवर्धन् अथवा बिट्टिग (1108 ई० से 1142 ई०), नरसिंह देव प्रथम (1142 ई० से 1173 ई०) तक चालुक्य सामंत के रूप मे राज्य किया। नरसिंह देव प्रथम के काल तक आते–आते चालुक्यों ने होयसलों पर अपना प्रत्यक्ष अधिकार जमाने का प्रयास बढ़ा दिया। दूसरी तरफ होयसल राज्य पर

बार–बार पाण्ड्य–शासक, वीरपाण्ड्य, एवं कदम्बों का आक्रमण बढ़ गया था। अंततः युवराज बल्लाल द्वितीय ने 22 वर्ष की अवस्था में उसने अपने आप को स्वतंत्र शासक के रूप मे स्थापित कर लिया एवं चालुक्य आधिपत्य से भी स्वयं को मुक्त कर दिया। यद्यपि प्रारम्भ मे उसे कलचुरियों तथा नोलम्बों जो चालुक्यों के सामन्त थे, से भी कड़ा मुकाबला करना पड़ा। 1184 ई० तक आते–आते जब कलचुरि–शक्ति समाप्त हो गई तब बल्लाल द्वितीय की शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया।

9.3 महत्वपूर्ण शासक एवं पतन

बल्लाल द्वितीय (1173 ई० से 1223 ई०)

बल्लाल द्वितीय, होयसल वंश का पहला शासक था जिसने होयसल राजवंश को एक सामंत राज्य से एक स्वतंत्र राज्य के रूप मे स्थापित किया। वीर बल्लाल के सत्ता मे आने के बाद उसके सामने उसके सबसे प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे ,चालुक्य नरेश सोमेश्वर चतुर्थ, देवगिरि के यादव तथा काकतीय थे। इनमे से अपनी कूटनीति से बल्लाल द्वितीय सोमेश्वर चतुर्थ से मैत्री सम्बन्ध बना लिया। 1189 ई० में यादव नरेश भिल्लम ने जब चालुक्य राज्य पर आक्रमण कर सोमेश्वर चतुर्थ को अपने साम्राज्य के दक्षिणी–पश्चिमी भाग जाने के लिए विवश कर दिया। वीर बल्लाल ने अवसर का लाभ लेते उठाते हुए भिल्लम तथा यादव सेनाओं पर आक्रमण कर उन्हे पराजित कर भिल्लम को तुङ्गभद्रा घाटी से भगा दिया। वीर बल्लाल ने इसके पश्चात् कदम्बों, सान्तरों तथा उनके सामन्तों को क्रमशः पराजित कर होयसलनाड एवं कृष्णा नदी के बीच सम्पूर्ण भू–क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया।

इस काल तक आते–आते चोलों की शक्ति भी काफी कमजोर हो गयी थी। चोलों के तरफ से अपने को सुरक्षित करने के क्रम मे होयसल वंश ने उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए। संभवतः वीर बल्लाल के साथ चोलों की घनिष्ठता का एक प्रमुख कारण पाण्ड्यों का चोलों पर लगातार आक्रमण था, जिसके लिए चोलों को भी एक सशक्त शक्ति की जरूरत थी। जब चोल नरेश राजराज तृतीय ने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण किया उस समय वीर वल्लाल ने अपने पुत्र नरसिंह द्वितीय को सहायता के लिए भेजा एवं सफलता प्राप्त किया। इस विजय के उपलक्ष्य में वीर बल्लाल ने 'चोलराज्यप्रतिष्ठाचार्य' तथा 'पाण्ड्यगजकेशरी' तथा उसके पुत्र वीर नरसिंह द्वितीय ने 'चोलकुलैकरक्षक मगधो–र्विपालनिर्मूलक', 'चोलस्थापक' तथा 'पाण्ड्यखण्डन' आदि विरुद् धारण किया।

नरसिंह द्वितीय (1220 ई०–1235 ई०)

वीर बल्लाल द्वितीय के बाद उसका पुत्र नरसिंह द्वितीय 1220 ई० मे राजगद्दी पर बैठा। इसके शासन काल के दो सबसे महत्वपूर्ण अभियान देवगिरि के यादवों एवं मारवर्मन् सुन्दरपाण्ड्य के विरुद्ध किए गए थे। यद्यपि यादवों के साथ युद्ध को लेकर दो तरह के विरोधी विचार हैं, हेमाद्रि कृत 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' के 'व्रतखण्ड' में लिखा है कि यादव नरेश रामचन्द्र ने नरसिंह द्वितीय को पराजित किया था। दूसरी तरफ होयसल–अभिलेखों के अनुसार यादव राजा महादेव रणभूमि से रात्रि के अन्धकार में घोड़े पर चढ़कर भाग गया। जबकि एन० सुब्रह्मण्यम तथा टी० के० रवीन्द्रन् जैसे विद्वानों ने हेमाद्रि के कथन को सही मानते हुए माना कि इसी कारण से नरसिंह द्वितीय को कृष्णा एवं तुंगभद्रा नदियों के मध्यवर्ती भू–भाग से हटना पड़ा था। मारवर्मन् सुन्दरपाण्ड्य ने चोल–नरेश राजराज तृतीय पर आक्रमण कर तंजोर एवं उरैयूर को आक्रान्त कर, राजराज तृतीय को बन्दी बना लिया। ऐसे मे होयसल नरेश नरसिंह द्वितीय ने न केवल मारवर्मन् सुन्दरपाण्ड्य को पराजित किया अपितु 1231 ई० में राजराज को पुनः चोलराज के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। उसने पाण्ड्य शासक को पराजित करके उरयुर, तंजोर श्रीरङ्गम् तक उन्हें खदेड़कर उनसे कर एवं भेंट भी प्राप्त किया।

सोमेश्वर अथवा सोविदेव (1236 ई० – 1262 ई०)

वीर नरसिंह द्वितीय के बाद 1236 ई० में उसका पुत्र सोमेश्वर होयसल राजगद्दी बैठा। जिसका कारण तात्कालिक चोल एवं पाण्ड्य राजवंश मे बदलते समीकरण थे। राजराज तृतीय के पश्चात् उसका पुत्र युवराज राजेन्द्र तृतीय जो बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी तथा योग्य था चोल–सिंहासन पर बैठा। इसी बीच पाण्ड्य नरेश मारवर्मन् सुन्दरपाण्ड्य के 1238–39 ई० में मरने के बाद पाण्ड्यों की आन्तरिक स्थिति गड़बड़ा गई थी। राजेन्द्र तृतीय चोल ने परिस्थिति का लाभ उठाते हुए कण्णनूर–क्षेत्र, जिसपर होयसलों का अधिकार थे किन्तु जिसे चोल मूलतया अपने साम्राज्य का अभिन्न एवं महत्त्वपूर्ण अंग मानते थे पर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त चोलों ने अपने सामंतों के साथ मिलकर होयसलों को कांची एवं कंडानूर से बाहर कर दिया। चोलों की इस नीति से सोमे''वर भी सतर्क हो गया एवं चोलों के विरुद्ध पाण्ड्यों का साथ दिया। होयसल अभिलेख जो मैसूर से प्राप्त हुए है उनमे सोमेश्वर को पाण्ड्यकुल संरक्षण 'दक्षदक्षिणभुजा' विरुद् से अलंकृत किया गया है। यद्यपि कालांतर मे होयसल एवं चोल के पारम्परिक मित्रता में आए दुर्भाव का प्रतिफल बाद में दोनों को ही भोगना पड़ा। 1251 ई० में जटावर्मन् सुन्दरपाण्ड्य के राजा बनते ही अस्थायी मित्रता भी टूट

गयी एवं पाण्ड्यों ने होयसलों पर आक्रमण कर कावेरी–घाटी को मुक्त करा लिया तथा उनके सेनानायक सिङ्गण ने सोमे''वर की हत्या भी कर दी ।

सोमे''वर ने अपने जीवनकाल 1254 ई० में ही अपने साम्राज्य को अपने दो पुत्रों मे बाँट दिया था जिससे होयसल राजवंश को बहुत ही नुकसान हुआ। इसके अंतर्गत कर्नाटक–प्रदेश के राज्यक्षेत्र को नरसिंह तृतीय को और तमिलनाडु में विस्तृत होयसल राज्य–क्षेत्र को रामनाथ को दे दिया ।1279 ई० में मारवर्मन् कुलशेखर पाण्ड्य ने रामनाथ की राजधानी कण्णनूर पर आक्रमण करके तमिल–क्षेत्र से होयसल प्रभुसत्ता को पूर्णतया समाप्त कर दिया। पराजित रामनाथ ने अपने सौतेले बड़े भाई नरसिंह तृतीय पर आक्रमण कर होयसल राज्य के कुनडाणी (बंगलोर जनपद) जीत लिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि अब नरसिंह को दो पक्षों पर एक साथ लड़ना था एक तरफ जहां सान्तर तथा देवगिरि के यादव राजवंश थे वही दूसरी तरफ उसका भाई रामनाथ था। जिनसे वह 1291–92 ई० तक जूझता रहा।

बल्लाल तृतीय (1291 ई० से 1343 ई०)

1291–92 ई० में नरसिंह के मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र बल्लाल तृतीय राजगद्दी पर बैठा। सत्ता मे आते ही उसे सबसे पहले 1295 ई० में चाचा रामनाथ के कणिगल पर आक्रमण को झेलना पड़ा। अंततः रामनाथ को पराजय का मुँह देखना पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई, एवं बल्लाल तृतीय ने विभाजित होयसलनाड़ को पुनः अपने साम्राज्य में मिला लिया।

इसके पश्चात् बल्लाल तृतीय ने 1303 में तुलुप राज्य को जीत लिया तथा आगे बढ़कर सिरिसि के मैदान में गंगेयसाहणि सेनानायक के नेतृत्व में होयसलों ने यादव नरेश रामचन्द्र को पराजित कर दिया। इस प्रकार उसका राज्य 1305 ई० तक बनवासी, शिमोगा, सान्तलिंग तथा कोगल आदि क्षेत्रों तक फैल गया। बल्लाल तृतीय को वीरपाण्ड्य तथा सुन्दरपाण्ड्य के बीच राजसिंहासन को लेकर गृहयुद्ध के कारण पाण्ड्य राजवंश से प्रतिशोध लेने का उचित अवसर मिल गया। उसने तेजी से पाण्ड्यों पर आक्रमण कर किंग, होंडयनाड एवं मुगद्व क्षेत्रों पर विजय प्राप्त कर ली। उसने तिरुवनमलय तथा कांची को भी जीत लिया एवं कांची को अपनी उपराजधानी बनाकर होयसलों की राज्यशक्ति पुनः स्थापित कर दिया ।

बल्लाल तृतीय ने अपने साहस से होयसलों की शक्ति को पुनः स्थापित कर दिया किन्तु वह बहुत स्थायी नहीं रहा। जिसका कारण दक्षिण भारत की राजनीति मे होने वाली सबसे बड़ी उथलपुथल थी। 1310 ई० में ही अलाउद्दीन

खिलजी के सेनापति मलिक काफूर द्वारा मावर तथा द्वारसमुद्र पर आक्रमण कर दिया। मलिक काफूर ने द्वारसमुद्र जीत लिया क्योंकि उस समय बल्लाल तृतीय पाण्ड्यों के विपरीत युद्धाभियान मे व्यस्त था। अन्ततः बल्लाल तृतीय को मलिक काफूर से सन्धि करना पड़ा। किन्तु कुछ ही समय बाद 1315 ई० मे अलाउद्दीन खिलजी के मृत्यु के पश्चात बल्लाल तृतीय ने अपनी खोयी शक्ति को संगठित कर के तमिल प्रदेश पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। 1320 ई० मे उसने संतरो की सहायता से कंपिलदेव को युद्ध मे पराजित करके तुंगभद्रा के दक्षिणी भू– भाग पर अधिकार कर लिया। यद्यपि कंपिलदेव ने पुनः युद्ध कर अपना राज्य पाने का प्रयास किया, किन्तु वह पराजित हुआ एवं संधि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। 1326–27 ई० में सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के विरुद्ध विद्रोह कर मलिक बहादुर गुशीस्प कम्पिल पहुँचा जिसे कम्पिलदेव ने शरण दे दिया। शाही सेना ने मलिक बहादुर गुशीस्प का पीछा करते हुए कम्पिलदेव के कुम्मट के गिरिदुर्ग को चारों ओर से घेर लिया। गुर्शास्प ने भाग कर अपनी जान बचाई किन्तु शाही सेना ने कम्पिलदेव की हत्या कर दी। गुशीस्प ने आगे बढ़कर वल्लाल तृतीय से शरण मांगी जिसके परिणामस्वरूप बल्लाल ने उसे बन्दी बनाकर मुस्लिम शाही सेनापति को सौंप दिया।

कम्पिलदेव की मृत्यु के बाद 1336 ई० में इस भू–भाग में कुछ समय पश्चात् विजयनगर साम्राज्य की स्थापना हुई। इसकी क्रम मे 1338–39 ई० में सैय्यद हसन किथली सुल्तान मुहम्मद–बिन–तुगलक की आज्ञा से मदुरा के पाण्ड्यों को पराजित करके 1341–42 ई० में मदुरा में अपनी स्वतंत्र सल्तनत की स्थापना कर लिया। अपनी सीमा से लगे मुस्लिम राज्य के कारण सुरक्षा के लिए बल्लाल तृतीय तिरुवण्णमलै में जाकर रहने लगा। 1343 ई० में वीर बल्लाल तृतीय त्रिचनापल्ली के निकट सुल्तान गयासुद्दीन की सेना के साथ युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। बल्लाल तृतीय के बाद बल्लाल चतुर्थ होयसल साम्राज्य को सुरक्षित रखने में सफल नहीं हो सका। अंततः लगभग 400 वर्षो पुराना होयसल राजवंश का पतन हो गया ।

बोध प्रश्न

1. द्वारसमुद्र के होयसल राजवंश की उत्पत्ति की विवेचना करें।

उत्तर.....

.....

.....

.....

बोध प्रश्न

2. बल्लाल तृतीय की उपलब्धियों एवं विजयों पर प्रकाश डालें।

उत्तर.....

.....

.....

.....

9.4 बोध प्रश्नों के उत्तर

उत्तर 1. देखें उपभाग 9.2 एवं 9.3

9.5 सारांश

होयसल राजवंश 14वीं सदी की शुरुआत में कमजोर हो गया और अंततः विजयनगर साम्राज्य में समाहित हो गया। अंतिम होयसल शासक वीर बल्लाल तृतीय ने यद्यपि साम्राज्य को संगठित करने का पूरा प्रयास किया था, किन्तु 1343 ई० में युद्ध में उसकी मृत्यु के साथ होयसल साम्राज्य तेजी से विघटित हो गया और अन्य साम्राज्यों में विलय हो गया। होयसल राजवंश को उसके मंदिर वास्तुकला के लिए याद किया जाता है। होयसल मंदिर पूरे कर्नाटक में स्थित हैं और इसमें हेलेबिड, बेलूर और सोमनाथपुर शामिल हैं।

9.6 शब्दावली

- धरोहर –ऐतिहासिक अवशेष, प्राचीन स्मारक
- हेलेबिड–हेलेबिड भारत के कर्नाटक राज्य के हासन ज़िले में अवस्थित

9.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास,शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास वि"वविद्यालयः मद्रास।

4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।

5. श्रीवास्तव, बलराम 2004., दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

इकाई– 10 गंग एवं कदंब वंश

इकाई की रुपरेखा

10.0 प्रस्तावना

10.1. उद्देश्य

10.2 पि”चमी गंग वंश का प्रारम्भिक इतिहास

10.3 गंग वंश के प्रमुख शासक एवं पतन

10.4 बनवासी के कदंब वंश का प्रारम्भिक इतिहास

10.5 कदंब वंश के प्रमुख शासक एवं पतन

10.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.7 सारांश

10.8 शब्दावली

10.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 प्रस्तावना

दक्षिण भारत के ऐतिहासिक वितान पर गंग और कदंब राजवंश दुर्जेय स्तंभों के रूप में खड़े हैं, जिन्होंने सदियों से इस क्षेत्र की नियति को आकार दिया है। क्रमशः कर्नाटक और गोवा में प्रमुखता से उभरते हुए, इन राजवंशों ने अपनी शक्ति एवं नीतियों से सामाजिक–राजनीतिक परिदृश्य को प्रभावित किया और दक्कन पर एक अमिट छाप छोड़ी। यह अध्याय इन वंशों के सामरिक और प्रशासन में उनके योगदान पर प्रकाश डालते हुए, गंग और कदंबों के बीच गतिशील अंतरसंबंध का अनावरण करता है जिसने इस अवधि के दौरान दक्षिण भारत के विकास को परिभाषित किया।

10.1. उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य गंग एवं कदंब राजवंश के इतिहास का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1. गंग एवं कदंब राजवंश के प्रारंभिक इतिहास के बारे में ।

3. गंग एवं कदंब राजवंश के महत्वपूर्ण शासकों की राजनीतिक उपलब्धियों के विषय में।

4. गंग एवं कदंब राजवंश के पतन के कारणों के संदर्भ मे ।

10.2 गंग वंश का प्रारम्भिक इतिहास

आधुनिक मैसूर के दक्षिण में तथा प्राचीन कदम्बों तथा पल्लवों के राज्यों के मध्य गंग राज्य स्थित था। इस वंश के प्रारम्भिक इतिहास के संदर्भ मे कोई स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त होती है, यद्यपि यह स्थान बहुत लम्बे समय गंग राजाओं के अधिकार मे रहा इसलिए इस क्षेत्र को 'गङ्गवाडि' कहा गया। अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह माना जाता है कि इस वंश का संस्थापक शासक कोंकणिवर्मा था। कोंकणिवर्मा को जाह्ववेय कुल अथवा गंगा का वंश तथा काण्वायन गोत्र का बताया गया है। उसने अपने कार्यकाल मे कई युद्धों मे विजय प्राप्त की एवं जिसके उपलक्ष्य में वह 'धर्ममहाराजाधिराज' की उपाधि धारण करता था जिससे उसकी स्वतंत्र सत्ता का अंदाजा लगाया जा सकता है। इसका काल 400 ई0 के लगभग था। साम्राज्य के प्रारम्भिक वर्षों मे इनकी राजधानी कुवलाल (कोलर) थी जिसे बाद में तलकाड स्थान्तरित कर दिया।

10.3 गंग वंश के प्रमुख शासक एवं पतन

गंग वंश के प्रथम शासक कोंगुणिवर्मन् (325ई.–350ई.) के शासन काल के विषय मे कोई भी स्पष्ट जानकारी नहीं प्राप्त होती है। गंग अभिलेखों के अनुसार राजकुमार कोगुणिवर्मन् जो मूलतः उत्तरी भारत की गंगा घाटी का निवासी था, ने वर्तमान कर्नाटक में जाकर गंग राजवंश की नींव डाली थी। वह जैन आचार्य सिंह नन्दि का शिष्य था जैन मतावलंबी था। उसने संभवतः 325 ई० से 350 ई० तक कोल्लार में शासन किया। कोंगुणिवर्मन् के पश्चात् उसका पुत्र माधव प्रथम(350ई.–375ई.) गंग राजगद्दी पर बैठा, इसके शासनकाल की सूचना शासनकोट ताम्रपत्र से प्राप्त होती है। उसका शासनकाल 375 ई० तक बना रहा। माधव प्रथम के पश्चात क्रमशः हरिवर्मन् (375 ई० – 400 ई०), माधव द्वितीय (400 ई० – 420 ई०), विष्णुगोप (420 ई० – 440 ई०),माधव तृतीय (440 ई० 469 ई०) शासक बना इसके काल मे गंगों एवं कदम्बों में गंभीर संघर्ष की शुरुआत हुई जिसका लाभ पल्लव–नृपति को मिला। परस्पर शत्रुता को समाप्त करने के लिए कदम्ब–नरेश कृष्णवर्मन् प्रथम ने माधव तृतीय के साथ अपनी बहन की शादी कर दिया।

विष्णुगोप के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अविनीत (469 ई० – 529 ई०) ने

लगभग 60 वर्ष तक शासन किया। इसके पश्चात दुर्विनीत(529 ई० – 579 ई०) जिसे निर्विनीत नाम से भी जाना जाता है ने गंग वंश की सत्ता संभाली। उसने साम्राज्य विस्तार क्रम मे पेरनगर, आलत्तूर तथा पोरुलेर पीआर अधिकार कर लिया। साम्राज्य विस्तार के अतिरिक्त दुर्विनीत एक महान् रचनाकार एवं विद्वान् था। उसने महाकवि भारवि को अपना संरक्षण प्रदान किया एवं उनकी कृति – 'किरातार्जुनीयम' पर भाष्य भी लिखा, इसके अतिरिक्त उसने गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' का 'बड्डकथा' के नाम से अनुवाद भी किया। दुर्विनीत के बाद उसका पुत्र मुष्कर (579 ई० – 604 ई०) एवं उसके पश्चात् क्रमशः पोलवीर (604 ई० – 629 ई०), विक्रम (629 ई० – 654 ई०), भूविक्रम (654 ई० – 679 ई०),शिवमार प्रथम (679 ई० – 725 ई०) शासक बने।

शिवमार प्रथम के पश्चात् उसका पौत्र श्रीपुरुष उसका उत्तराधिकारी बना। श्रीपुरुष ने पल्लव शासक के विरुद्ध तुण्डाक के युद्ध मे चालुक्य नरेश विक्रमादित्य द्वितीय के साथ युद्ध में भाग लिया था, जिसमे अंततः नन्दिवर्मन् पराजित हुआ। अपनी पराजय के प्रतिशोध में नन्दिवर्मन् ने 754 ई० में गंग–राजधानी कुवलाल पर भीषण आक्रमण कर उसे लूट लिया यद्यपि इस युद्ध में श्रीपुरुष को विशेष क्षति नहीं हुई।

चालुक्यों के पतनोपरान्त राष्ट्रकूटों ने गंगों को अपने अधीन करने के लिए अपने अभियान तेज कर दिये। राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम द्वारा गंगों के विरुद्ध 778 ई० मे आक्रमण कर दिया जिसका प्रबल प्रतिरोध गंग–नरेश श्रीपुरुष ने सफलतापूर्वक किया एवं अपनी राजधानी को सुरक्षित रखने मे सफल रहा। जब राष्ट्रकूट गंग के विरुद्ध सामने से सफल नहीं हुए तो उन्होने गंगो के सामंत नोलम्बो को उनके खिलाफ विद्रोह के लिए उकसाया यद्यपि उसमे भी उन्हे सफलता नहीं मिली एवं बाद में गंगों ने पुनः नोलम्बों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। गंग अभिलेखों से जानकारी मिलती है की गंगो का तत्कालीन पाण्ड्य–नरेश तेरमार जिसने एक गंग राजकन्या का अपहरण कर उससे राक्षस विवाह कर लिया था से भी युद्ध किया, जिसमे चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन् द्वितीय ने भी सैनिक सहायता प्रदान की। इस युद्ध मे अन्ततः श्रीपुरुष पाण्ड्यों से पराजित हो गया।

श्रीपुरुष के उपरान्त उसका पुत्र शिवमार द्वितीय (788 ई० –796 ई०) उसका उत्तराधिकारी हुआ। श्रीपुरुष के मरते ही राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव धारावर्ष ने गंगराज्य पर आक्रमण करके शिवमार द्वितीय को राजगद्दी से हटा कर अपने पुत्र स्तम्भ को यहाँ का शासक बना दिया। किन्तु, राष्ट्रकूट–नरेश गोविन्द तृतीय ने सत्ता मे आने के बाद स्तंभ को कमजोर करने के लिए शिवमार को गंगवाड़ी का पुनः शासक

बना दिया। यद्यपि उसे इसमे सफलता नहीं मिली एवं शिवमार ने विद्रोह कर दिया जिसके फलस्वरूप उसने शिवमार को बन्दीगृह में डाल दिया, जहां संभवतः उसकी मृत्यु हो गई। शिवमार के पश्चात् क्रमशः मारसिंह (796 ई०–799 ई०), राजमल्ल प्रथम (816 ई०–843 ई०), गतिमार्ग एरेगंग (843 ई०–870 ई०) ने शासन किया। इन शासको का काल मुख्य रूप से गंग एवं राष्ट्रकूट संघर्ष का काल रहा, जिसमे दोनों ही पक्षों को कोई विशेष सफलता नहीं मिली अंततः राष्ट्रकूट शासक ने गंगों से मैश्रीभाव बढ़ाने के लिए अपनी पुत्री चन्द्रोबलब्बे का विवाह एरेगंग के पुत्र वृतुग प्रथम के साथ कर दिया। जिसके परिणामस्वरूप गंग–राज्य स्वतंत्र होकर राष्ट्रकूटों का मित्र राज्य हो गया।

एरेगंग के पुत्र वृतुगु प्रथम जो युवराज भी था, की आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण सत्ता राजमल्ल द्वितीय (870 ई० 919 ई०) को प्राप्त हुई। इसके शासनकाल मे उसे अपने सीमावर्ती शासकों यथा–बाणों, नोलम्बों तथा वैदुम्बों के साथ युद्ध करना पड़ा। इसके साथ ही साथ पृथ्वीपति का पुत्र नखियगंग जो स्वयं को गंग सत्ता का वैध शासक मानता था, ने बाण–शासक विद्याधर एवं वैदुम्बों से मित्रता करके राजमल्ल पर आक्रमण कर दिया। इस स्थिति का लाभ लेते हुए वाणों ने गंगों के सामन्त नोलम्बों को पराजित कर क्रमशः मण्णे, पुलिनाडु एवं तलकाड को आक्रान्त कर दिया।

राजमल्ल द्वितीय ने 919 ई० तक शासन किया, उसके पश्चात् उसने सत्ता अपने भ्रातृज एरेगंग उपनाम एरेयप्प को उत्तराधिकारी मनोनीत किया तथा इसने 920 ई० तक शासन किया। इसके बाद क्रमशः नरसिंह ने 920 ई० से 993 ई० तथा राजमल्ल तृतीय 933 ई० से 936 ई० तक राज्य किया। अन्ततः राष्ट्रकूट शासक कृष्ण तृतीय ने गंग राजकुमार बुतुगू द्वितीय को अपना समर्थन दे कर 936 ई० में राजमल्ल तृतीय को युद्ध में पराजित कर गंग सत्ता प्राप्त करने मे मदद की। बूतुग द्वितीय (936 ई० 961 ई०) का विवाह राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष की पुत्री रेक्कम्मिड़ी के साथ हुआ था। बूतुग द्वितीय ने कृष्ण तृतीय को चोलों के विरुद्ध कई युद्धों में बड़ी सहायता प्रदान की थी, इसीलिए कृष्ण तृतीय ने उसे गंगवाड़ी का शासक बनवाने में मदद किया। बूतुग द्वितीय ने राष्ट्रकूट के साथ चोलो के विरुद्ध युद्ध मे चोल राजकुमार राजादित्य का वध कर दिया था। इसी निष्ठा को देखकर राष्ट्रकूटों ने उसे बनवासी का राज्य सौंप दिया था ।

बूतुग द्वितीय के बाद उसका पुत्र मरुल गंग अंत्यन्त अल्पकाल के लिए शासक हुआ। मरुल के पश्चात उसका भाई मारसिंह द्वितीय राजगद्दी पर बैठा।उसका विवाह राष्ट्रकूट–शासक कृष्ण तृतीय की पुत्री के साथ हुआ। इसके शासनकाल मे 972–73 ई० में कल्याणी के पश्चिमी चालुक्य नरेश तैलप द्वितीय ने

तत्कालीन राष्ट्रकूट– शासक कृष्ण तृतीय को पराजित कर उसके राज्य के बड़े भाग पर अपना अधिकार कर लिया। इस अवसर पर मारसिंह द्वितीय गंग ने पश्चिमी चालुक्यों के विरुद्ध अपना सहयोग कर इन्द्र चतुर्थ को राष्ट्रकूट शासक बनने मे मदद की। उसने नोलम्बों को पराजित कर 'नोलम्बान्तक' विरुद् धारण किया।

मारसिंह द्वितीय जैन धर्मावलम्बी था। उसने सल्लेखन विधि से श्रवण वेलगोला में अपना शरीर त्याग किया। मारसिंह द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् गंगराज्य तेजी से पतनोन्मुख हो गया। सत्ता पर अधिकार को लेकर उसके पुत्र राजमल्ल चतुर्थ तथा नरसिंह के अनुज नीतिमार्ज गोविन्दरस में संघर्ष छिड़ गया। अंतिम में मारसिंह के सेनापति चामुण्डराय की सहायता से राजमल्ल चतुर्थ ने 799 ई० मे सत्ता पर अधिकार कर लिया। यद्यपि उसका इसी बीच पश्चिमी चालुक्य नरेश तैलप ने गंगवाड़ी पर आक्रमण करके गंगवाड़ी पर अधिकार कर लिया जिससे उसका राज्यक्षेत्र केवल दक्षिणी भाग तक सिमट कर रह गया।

बोध प्रश्न 1.

गंग वंश के प्रारम्भिक इतिहास पर प्रकाश डालते हुए इस वंश के महत्वपूर्ण शासकों की राजनीतिक उपलब्धियों का वर्णन करें ।

उत्तर.....

.....

.....

10.4 बनवासी के कदंब वंश का प्रारम्भिक इतिहास

कदम्ब वंश का संस्थापक मयूरशर्मन् था, जो पहले पल्लवों की अधीनता स्वीकार करते थे। ये मानव्यगोत्रीय ब्राह्मण थे जो अपने को हारीति –पुत्र कहते थे जिनका मुख्य कार्य वेदों का अध्ययन, यज्ञ एवं अनुष्ठान करना था। चतुर्थ शताब्दी ईस्वी के मध्य में दक्षिणापथ के दक्षिण–पश्चिम से कदम्बों का उदय हुआ। यह वही काल था जिस समय समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य–विस्तार के क्रम मे दक्षिणापथ–अभियान पर था एवं जिसके परिणामस्वरूप काँची के पल्लवों की शक्ति बहुत कम हो चुकी थी। इस वंश के संस्थापक मयूरशर्मन् ने पल्लवों का विरोध कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली।

10.5 कदंब वंश के प्रमुख शासक एवं पतन

कदम्ब वंश की प्रारम्भिक राजनीतिक घटनाओं के संदर्भ मे कोई स्पष्ट

ऐतिहासिक जानकारी नहीं प्राप्त होती है। तालगुंड प्रशस्ति से इस वंश के संस्थापक मयूरशर्मन् के संदर्भ मे पता चलता है कि वह एक ब्राह्मण था तथा उसने अपनी शिक्षा काँची से प्राप्त की थी। काँची में ही किसी पल्लव घुड़सवार सैनिक विवाद होने पर जब वह न्याय के लिए पल्लव–नरेश के दरबार मे गया तो उसे वहाँ भी अपमान सहना पड़ा। जिसके परिणामस्वरूप मयूर''र्मन् आक्रोशित होकर काँची से कुन्तल लौट आया, एवं यहीं पर उसने अपने ब्रह्मणोचित कर्मों को त्याग कर अपना राज्य शासन स्थापित करने के लिए तलवार धारण कर लिया।

कुन्तल (कर्णाटक) में 'वनवासी' को राजधानी बनाकर मयूर''र्मन् ने चौथी शती ई० के मध्य में अपना राज्य स्थापित किया। संभवतः, समुद्रगुप्त के दक्षिण भारत पर आक्रमण के पश्चात् उत्पन्न राजनीतिक शून्यता उसके लिए वरदान साबित हुई होगी। संभवतः मयूरशर्मन् ने अपना पहला अभियान पल्लवों के अन्तपालों के विरुद्ध जिसमे उसे बड़ी सफलता मिली एवं उसने श्रीपर्वत (करनूल जनपद, आन्ध्र प्रदेश का श्रीशैलम्) के पठारी जंगली क्षेत्र पर अधिकार कर लिया ।

श्रीपर्वत क्षेत्र के पश्चात् उसने पल्लव पोषित बाण आदि पल्लव सामन्त–शासकों को जीतकर प्राप्त विपुल धन से अपने शासन एवं सेना को मजबूत किया। मयूरशर्मन की बढ़ती शक्ति के कारण अन्ततः पल्लव–नरेश ने उससे सन्धि का प्रस्ताव भेजा जिसे मयूरशर्मन ने स्वीकार कर लिया एवं पल्लव–नरेश के विश्वासपात्र सामन्त के रूप मे शासन करना स्वीकार किया। जिससे प्रसन्न होकर पल्लव–नरेश ने उसे एक राजमुकुट भेंट कर पश्चिमी समुद्रतट तक का विस्तृत विशाल भू–क्षेत्र का शासक बना दिया।

मयूरशर्मन् के चन्द्रवल्लि अभिलेख मे उसकी उपलब्धियों का काव्यात्मक उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार मोटे तौर पर उसका शासन विन्ध्य एवं अरावली की पहाड़ियों के मध्य फैला हुआ था, किन्तु एच० वी० श्रीनिवासमूर्ति, एवं के० पी० जायसवाल प्रभृति विद्वानों का मानना है कि उपर्युक्त विजयों को पूर्ण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है क्योंकि इनकी पुष्टि किसी दूसरे साक्ष्य से नहीं होती है। फिर भी मोटे तौर पर मयूरशर्मन् की विजयों के आधार पर इसका राज्य कर्नाटक तक ही केन्द्रित था, यद्यपि इसमे कोई संदेह नहीं है कि वह एक शक्तिशाली एवं महान् शासक था। उसके शासनकाल के परवर्ती अभिलेखों से ज्ञात होता है कि मयूरशर्मन् द्वारा 18 अश्वमेध यज्ञों तथा 144 ग्राम्य दान दिये गए थे। परन्तु तालगुंड अभिलेख में इस प्रकार की सूचनाओं का कोई भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता है अतः उपरोक्त सूचना को बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। मयूरशर्मन् के शासनकाल की अवधि को प्रामाणिक साक्ष्यों का

अभाव है। यद्यपि, अधिकांश विद्वान् उसके शासनकाल को 340 ई० से 370 ई० के मध्य मानते हैं।

मयूरशर्मन के बाद उसका पुत्र कंगवर्मन्(लगभग 370 ई० से 395 ई०) कदम्ब–शासक हुआ। संभवतः कंगवर्मन् ने ब्रहमनोचित कर्म के स्थान पर क्षत्रियोचित कर्म अपनाने के कारण उसने अपने नाम से 'शर्मन्' शब्द को हटाकर 'वर्मन्' लिखवाना प्रारम्भ कर किया। कंगवर्मन् ने पल्लव–नरेशों की भाँति 'धर्ममहाराजाधिराज' की उपाधि धारण की जिससे पता चलता है कि वह स्वतंत्र शासक बन चुका था। इसकी सीमा वाकाटकों से मिलती थी, उस समय उसका समकालीन वाकाटक शासक विन्ध्यशक्ति द्वितीय था, जिसने संभवतः उसे पराजित कर दिया था। अजन्ता की गुफा से मिले एक वाकाटक अभिलेख से इस घटना की पुष्टि होती है।

कंगवर्मन् के पश्चात उसका पुत्र भगीरथ (395 ई० से 420 ई०) उत्तराधिकारी बना , जिसकी तुलना तालगुण्ड अभिलेख में ऐक्ष्वाकु नृपति भगीरथ से की गयी है। संभवतः गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने महाकवि कालिदास को राजनयिक संबंध स्थापित करने के लिए भगीरथ के शासनकाल मे अपना राजदूत बनाकर कर्नाटक भेजा था। जिसके परिणामस्वरूप कदम्ब–नरेश ने अपनी पुत्री का विवाह कुमारगुप्त प्रथम से कर दोनों वंश के मध्य वैवाहिक सम्बन्ध हुआ। भगीरथ के पुत्र काकुस्थवर्मन् के तालगुण्ड अभिलेख में इस वैवाहिक सम्बन्ध का विवरण मिलता है।

भगीरथ के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र रघु (420 ई० 430 ई०) ने सत्ता संभाली। उसने अपने छोटे भाई काकुस्थवर्मन् को अपना युवराज किया एवं दोनों ने मिलकर, पल्लवों तथा अन्य सीमावर्ती राज्यों के विरुद्ध अनेक युद्ध किया, जिसका विवरण हलसी अभिलेख में मिलता है। तालगुण्ड अभिलेख में रघु को महान् प्रजापालक तथा शत्रुओं का दमन करने वाला कहा गया है। रघु ने 'रघुपार्थिव' विरुद् धारण किया।

रघु के पश्चात उसका अनुज काकुस्थवर्मन् (430 ई० से 450 ई०) कदम्ब–राजसिंहासन पर आसीन हुआ। तालगुण्ड अभिलेख मे उसे वीर साहसी एवं कला प्रेमी बताया गया है इसके अतिरिक्त उसे राजाओं में सूर्य, कदम्बकुलअलंकार, महान् विजेता, यशस्वी, प्रजारक्षक तथा उदारमना शासक बताया गया है। काकुस्थवर्मन् का समकालीन शक्तिशाली भारतीय राजवंशों के साथ वैवाहिक संबंध था जिससे निश्चित तौर पर उसकी राजनीतिक स्थिति बड़ी मजबूत हो गई थी। काकुस्थवर्मन् की एक बहन का विवाह गुप्त–शासक

कुमारगुप्त के साथ हुआ था। उसकी अन्य चार पुत्रियों का विवाह वाकाटक–शासक नरेन्द्रसेन, आलुप नरेश पशुपति, गंग–शासक माधव द्वितीय एवं एक पुत्री का विवाह संभवतः किसी गुप्तवंशी राजकुमार के साथ हुआ था। उसने 'धर्ममहाराज' तथा 'धर्मराज' जैसी उपाधियाँ धारण की थी। तालगुण्ड नामक स्थान पर उसने एक बड़ा तालाब तथा प्राणवेश्वर महादेव का विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया था।

काकुस्थवर्मन् के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र शान्तिवर्मन् (450 ई० – 475 ई०)राजगद्दी पर बैठा। तालगुण्ड अभिलेख में इसे 'त्रिराजमुकुट अपहर्त्ता' तथा उनसे 'शोभायमान नृपति' कहा गया है। उसने अपने साम्राज्य–विस्तार के क्रम मे अपने पड़ोसी राज्यों के अलावा संभवतः पल्लव–नरेश विष्णुवर्मन् से भी युद्ध किया। विष्णुवर्मन् के वीरुर ताम्राभिलेख मे शान्तिवर्मन् एवं उसकी राजधानी का वैभव बताया गया है। अपने पिता की तरह उसने भी 'धर्मराज' की उपाधि धारण की तथा उसने अपने युद्धाभियानों से बहुत संपत्ति प्राप्त की।

शान्तिवर्मन् का ज्येष्ठ पुत्र मृगेशवर्मन् अथवा विजयशिवमृगेशवर्मन् (475 ई० दृ 490 ई०) कदम्ब राजवंश का शासक बना, अपने शासनकाल में उसने कदम्ब साम्राज्य का दक्षिणी हिस्सा अपने अनुज कृष्णवर्मन् को दे दिया गया। कृष्णवर्मन् ने अपनी राजधानी त्रिपर्वत को बनाकर अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर ली। मृगेशवर्मन् एक पराक्रमी तथा उदार शासक था, जिसकी न्याय के क्षेत्र में तुलना युधिष्ठिर से की गई है। उसने 'धर्ममहाराज' विरुद् धारण किया था।

मृगेशवर्मन् के पश्चात उसका जेष्ठ पुत्र रविवर्मन् (490 ई०538 ई०) कदम्ब–राजसिंहासन पर आसीन हुआ। यह कदम्ब वंश का अंतिम सबसे महत्वपूर्ण शासक था अपने उत्तराधिकार प्राप्त करने के क्रम मे उसे अपने कई प्रतिद्वन्द्वियों जिसमे बनवासी के कदम्ब भी सम्मलित थे एवं पल्लवों के साथ संघर्ष करना पड़ा। कदम्ब अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने काँचीपति चण्डदण्डेश को युद्ध में पराजित कर मार डाला एवं उसके पश्चात अपने चाचा त्रिपर्वत कदम्ब–शासक विष्णुवर्धन् को भी युद्ध मे पराजित किया। संभवतः कांचीपति चण्डदण्डेश कोई शक्तिशाली पल्लव सामन्त रहा होगा। गुडनापुर अभिलेख से उसके द्वारा पाण्ड्यों, कोगाल्वों तथा आलुपों के विरुद्ध किए गए सफल अभियानो का विवरण प्राप्त होता है। अपनी विजयों के माध्यम से उसने अपने राज्य की सीमा उत्तर में नर्मदा नदी तक विस्तृत कर ली थी। अपने विजय अभियानो के क्रम मे उसने गंगों पर भी आक्रमण किया जिसमें उसने गंग–नरेश हरिर्वमन् को पराजित कर उसे अपनी राजधानी कोलार से हटाकर तलकाड बनाने के लिए बाध्य कर दिया। श्रीनिवासमूर्ति तथा अन्य कई विद्वानों

का मानना है कि इस पराजित गंगनरेश का नाम अविनीत था। रविवर्मन् एक सफल योद्धा होने के साथ ही वह एक कुशल प्रशासक भी था। उसने प्रशासन की सुविधा कि दृष्टि से उच्छंगी राज्य को अपने साम्राज्य में मिलाने के बाद हलसी पलाशिका को अपनी उपराजधानी बनाया।

रविवर्मन् के पश्चात् हरिवर्मन् (530 ई० – 560 ई०),बनवासी कि सत्ता पर आसीन हुआ। इसे सबसे बड़ी चुनौती तत्कालीन उभरती शक्ति वातापी के चालुक्यों से मिली। उसके शासनकाल में कदम्बों के सामन्त चालुक्य जयसिंह, रणराग एवं बाद में पुलकेशिन् प्रथम ने वातापी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। दूसरी तरफ रविवर्मन् की निर्बलता का लाभ उठाकर वाकाटकों ने भी अपनी सीमाएँ विस्तृत कर ली। वनवासी के मूल कदम्ब राजवंश का अंतिम शासक हरिवर्मन् हुआ क्योंकि उसकी मृत्यु के बाद कदम्बों की दूसरी शाखा त्रिपर्वत के कदम्बों ने बनवासी के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया।

बोध प्रश्न 2. कदम्ब वंश के प्रारम्भिक इतिहास पर प्रकाश डालते हुए इस वंश के महत्वपूर्ण शासकों की राजनीतिक उपलब्धियों का वर्णन करें।

उत्तर.....

10.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– देखें उपभाग 10.2 एवं 10.3

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– देखें उपभाग 10.4 एवं 10.5

10.7 सारांश

प्राचीन भारतीय अन्य राजवंशों की तरह गंग एवं कदंबों को भी अपने अस्तित्व के लिए अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा जिसके कारण अंततः उनका पतन हुआ। आंतरिक संघर्षों और बाहरी दबावों ने साम्राज्य पर उनकी पकड़ समय के साथ कमजोर कर दी, दूसरी तरफ अन्य क्षेत्रीय शक्तियों के उदय यथा चालुक्य, राष्ट्रकूट और बाद में होयसल ने इन वंशो के पतन को गति प्रदान की। हालाँकि, गंगो एवं कदंबों की विरासत सदियों तक उसके पूर्ववर्ती वंशो के लिए एक उदाहरण के तौर पर कायम रही। कला, संस्कृति और शासन में उनके योगदान ने दक्कन की समृद्ध विरासत की नींव रखी।

गंगो एवं कदंबों द्वारा पोषित वास्तुकला के चमत्कार, साहित्यिक उन्नति तथा सांस्कृतिक लोकाचार आज भी उनके समृद्ध विरासत का भौतिक प्रमाण है।

10.8 शब्दावली

- वितान –विस्तार/ फैलाव
- परिदृश्य –सामने सपष्ट दिखने वाला

10.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन., 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास,शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास वि"वविद्यालयः मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

इकाई–11 वारंगल के काकतीय राजवंश–गजपति, रुद्राम्बा एवं प्रतापरुद्र

इकाई की रुपरेखा

11.0 प्रस्तावना

11.1. उद्देश्य

11.2 प्रारम्भिक इतिहास

11.3 गजपति

11.4 रुद्राम्बा

11.5 प्रतापरुद्र एवं काकतीय वंश का पतन

11.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.7 सारांश

11.8 शब्दावली

11.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

11.0 प्रस्तावना

काकतीय राजवंश का उदय 12वीं शताब्दी में भारत के पूर्वी दक्कन क्षेत्र मे हुआ। इनके राज्य में अब का तेलंगाना, आंध्र प्रदेश, पूर्वी कर्नाटक, उत्तरी तमिलनाडु और दक्षिणी उड़ीसा के कुछ हिस्से शामिल थे। उनकी राजधानी ओल्गल थी, जिसे अब वारंगल के नाम से जाना जाता है। प्रारंभिक काकतीय शासकों ने दो शताब्दियों से अधिक समय तक पश्चिमी चालुक्य के सामंत के रूप में शासन किया। काकतीय राजवंश के अंतर्गत इस क्षेत्र में समग्र विकास हुआ। काकतीय अपनी कुशल शासन प्रणाली और अपनी मजबूत सेना के लिए जाने जाते थे। उन्होंने कई सिंचाई जला''य और नहरें भी बनवाईं, जिससे उनके राज्य की कृषि अर्थव्यवस्था को बेहतर बनाने में मदद मिली। काकतीय काल के दौरान बनाए गए सिंचाई जलाशय आज भी उपयोग में हैं।

11.1. उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य वारंगल के काकतीय राजवंश के इतिहास का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों

की जानकारी प्राप्त होगी।

1. वारंगल के काकतीय राजवंश के प्रारंभिक इतिहास के बारे में।
2. वारंगल के काकतीय राजवंश के महत्वपूर्ण शासक गजपति, रुद्रम्बा एवं प्रतापरुद्र उनकी राजनीतिक उपलब्धियों के विषय में ।
5. वारंगल के काकतीय राजवंश के पतन के कारणों के संदर्भ मे।

11.2 प्रारम्भिक इतिहास

काकतीय शासकों ने अपनी वंशावली दुर्जय वंश से जोड़ते है। अधिकांश काकतीय अभिलेखों में उनके कुल का उल्लेख नहीं है, यद्यपि कुछ अभिलेखों मे जैसे गणपति के सेनापति मलयाला गुंडा सेनानी के बोसपुर और वादामनु शिलालेख मे उन्हे गर्व से शूद्र के रूप में वर्णित किया गया हैं। इसके अतिरिक्त काकतीय वंश का समकालीन अन्य शूद्र परिवारों, जैसे खोटा वंश और नाथवाडी जनजातियों के साथ भी वैवाहिक संबंध थे। ये सभी साक्ष्य काकतीय वंश के शूद्र मूल का होने की और इशारा करते हैं। दूसरी तरफ, काकतीय वंश के कई ताम्रपत्र शिलालेखों में उन्हे क्षत्रिय कुल का भी बताया गया है। ये शिलालेख मुख्य रूप से ब्राह्मणों को दी जाने वाली भू–दान से संबन्धित हैं और शाही चोलों की वंशावली से प्रेरित प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए, गणपति के मोथुपाली शिलालेख में राम जैसे प्रसिद्ध सूर्य वंशीय राजाओं को काकतीय परिवार के पूर्वज दुर्जय के पूर्वजों में गिना गया है। काकतीय शासक गणपतिदेव और रुद्रामा देवी के गुरु वि''वे''वर शिवाचार्य के मलकापुरम् शिलालेख भी काकतीय परिवार को सूर्य वंश से जोड़ा गया हैं। संभवतः अभिलेखों की इन श्रृंखलाओं में 'क्षत्रिय' शब्द वास्तविक वर्ण की जगह योद्धा जैसे गुणों को अधिक संदर्भित करता प्रतीत होता है।

काकतीयों का उदय संभवतः एक सामंत के रूप में उस समय हुआ जब कि कल्याणी के चालुक्य अपने उत्कर्ष पर थे। इस वंश का प्रथम ऐतिहासिक राजा बेट प्रथम था, जो संभवतः पहले पल्लवों का सामंत था, बाद मे राजेंद्र चोल ने उस पर अधिकार कर लिया। बेट प्रथम ने उस क्षेत्र के चोल प्रशासक को पराजित कर ११वीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में नलगोंडा के आस–पास एक सामंती राज्य कि स्थापना की। इसके पश्चात् महामंडले''वर प्रोल प्रथम का उत्तराधिकारी हुआ, जो कि सोमेश्वर प्रथम के प्रति एक सामंत था। कल्याणी के चालुक्यों की ओर से लड़े उसके अभियानो से प्रसन्न होकर सोमेश्वर प्रथम ने उसे अन्नमकोंड विषय का स्वतंत्र शासक बना दिया। इसका उत्तराधिकारी

त्रिभुवनमल्ल बेट द्वितीय था, जिसने संभवतः 1079 ई० से शासन का आरंभ किया, इसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर विक्रमादित्य षष्ठ ने सब्बविषयी (सब्बीनाडु) को बेट द्वितीय को दे दिया। उसने अन्नमकोड को अपनी राजधानी बनायी, और वहाँ शिवपुरी नामक पुष्कर का निर्माण कराया।

1197 ई० में उसका उत्तराधिकारी प्रोल द्वितीय हुआ, जिसने विक्रमादित्य षष्ठ की मृत्यु के बाद जब चालुक्य साम्राज्य विखंडित होने लगा तो उसने तेलंगाना तथा आंध्र जनपद पर स्वतंत्र अधिकार कर लिया। इस क्रम मे उसे अनेक युद्ध करने पड़े, जिसका उल्लेख हनुमानकोण्ड अभिलेख में प्राप्त होता है, जिसके अनुसार प्रोल द्वितीय के लगातार बढ़ते विजयों से चिन्तित होकर जब कल्याणी के चालुक्यनरेश जगद्देव ने अनुमकोण्ड को घेर लिया। उसने जगद्देदेव को पराजित करके अंततः उसे पराजित करके बंदी बना लिया। बाद में उसने चालुक्यनरेश को मुक्त कर दिया एवं सामन्तित्व का परित्याग कर अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया।

प्रोल द्वितीय ने 1150 ई० मे रुद्रदेव शासक बना जिसने 1115 ई० तक राज्य किया जिसने अपने क्षत्रबल से चालुक्य शासक तलैप द्वितीय को पराजित किया। इसके पश्चात् महादेव ने 1195 ई० मे सत्ता संभाली एवं 1198 ई० तक शासन किया, इसके काल मे यादव शासक जैतुगी ने आक्रमण किया जिसमे वह संभवतः मारा गया एवं उसके पुत्र गणपति अथवा गजपति को बंदी बना लिया गया।

11.3 गजपति/ गणपति (1198 ई० से 1269 ई०)

प्रारम्भिक वर्षो मे जब गजपति यादव शासक के कैद मे था, उस समय काकतीय राज्य में अव्यवस्था फैल गयी। काकतीय राज्य के अधीन बहुत से सामंत सिर उठाने लगे एवं विद्रोह फैलने लगे बढ़ गए। सीमावर्ती राज्य जैसे नागरी के राजा और चोल राजा कुलोत्तुंग तृतीय के अधीनस्थ सामन्त काकतीय राज्य मे घुसपैठ करने लगे थे। इन विपरीत परिस्थितियों में गणपति ने सत्ता संभालने के पश्चात् अपने पराक्रम और नीतिज्ञता से काकतीय वंश को सम्पूर्ण आन्ध्र की एक महान शक्ति के रूप में स्थापित किया। गणपति ने जर्जर होते चोल साम्राज्य के विघटन का पूरा फायदा उठाया, कुलोत्तुंग तृतीय के बाद चोल राज्य पर पाण्ड्य और होयसल राजाओं ने क्रमिक रूप से अपना अधिकार बढ़ाने का प्रयास किया जिसमे काकतीय राजा गणपति भी शामिल हो गया।

गणपति ने अपने साहस एवं पराक्रम से वेलनादि राजवंश को परास्त करके गोदावरी के पश्चिमी भाग पर अधिकार कर लिया। जिसके परिणामस्वरूप

उसका अधिकार आन्ध्र के काफी इलाके पर हो गये तथा उसके राज्य का विस्तार पूर्वी समुद्रतट तक फैल गया, जिससे उसकी पहुँच पूर्वी तट के बंदरगाहों तक हो गया जिसका उपयोग उसने समुद्री व्यापार की सुविधा के लिए किया। 1211 ई० तक गणपति ने वेलनाडु के शासक पृथ्वीसेन की सत्ता का उन्मूलन करके यह सफलता प्राप्त की। चोल शासक राजराज तृतीय की निर्बलता का लाभ उठाकर उसके कई सामंतों ने स्वयं के स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली, जिनमे तेलगुचोड, नेल्लोर कुडपट्ट और चिंगलेप्रत भी शामिल थे। गणपति के इन तेलगु चोडन नरेशों से मैत्रीपूर्ण संबंध थे एवं जब–जब नेल्लोर के शासक ने गणपति का साथ छोड़ चोलों का समर्थन किया तो ऐसी परिस्थिति में गणपति ने नेल्लोर पर आक्रमण कर उससे कांची तक की भूमि छीन ली। अपने साम्राज्य विस्तार के क्रम मे उसने गंगनृप अनंगभीम तृतीय को पराजित कर, उससे गोदावरी के पूर्वी तटवर्ती प्रदेशों को छीन लिया साथ ही अमरावती के काकोट नृप पर भी उसने अधिकार कर लिया। गणपति की इन विजयों से उसकी राज्य–सीमा केरल और कुहुपट्ट जिलों तक फैल गयी जिसका स्वाभाविक परिणाम के रूप मे उसका संघर्ष होयसलों से होना तय हो गया क्योंकि काकतीय राज्य की सीमा होयसल राज्य की सीमा को छूने लगी थी। जिसमे भी मुख्य प्रश्न वेलारी और अनन्तपुर जिलों के अधिकार को लेकर पैदा हुआ। इस संदर्भ मे अभिलेखीय प्रमाण इस ओर इशारा करते हैं कि गणपति ने होयसल शासक को नरेश को पराजित किया, यद्यपि इसमे कोई संदेह नहीं कि होयसलों से वह वेलारी और अनन्तपुर का क्षेत्र छीन नहीं सका। इस क्षेत्र को लेकर गणपति का विवाद संभवतः यादव नृप सिंघण से भी हुआ जिसमे विजय का दावा दोनों ही पक्ष करते है, अतः निर्णायक तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता। उत्तर–पूर्व में गणपति को विलासपुर क्षेत्र मे भी संभवतः कुछ सफलता मिली थी।

अपनी विजयों से उसके राज्य की सीमा गोदावरी जिले से चिंगलेपुर और येलगंड जिले से समुद्र तट तक फैल गयी। उसका अधिकार वारङ्गल, नलगोण्डा, आधुनिक महबूब नगर गोदावरी, कृष्णा, गुंटूर, कर्नूल, नेल्लोर, चिन्नूर जिलों तक हो गया। इन विजयों के अतिरिक्त उसे पाण्ड्य शासक जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य से पराजित भी होना पड़ा। संभवत सुन्दर पाण्ड्य ने चोलों और होयसलों को पराजित करने के बाद काकतियों पर आक्रमण किया तथा गणपति से कांची छीन लिया।

अपनी विजयों के अतिरिक गणपति का राज्यकाल उसके काल मे मंदिरवास्तु का भी काफी विकास हुआ उसके काल मे रामप्प, पालमपेट, पिलमरी आदि

स्थानों पर अनेक मंदिरों का निर्माण कराया गया। उसने वारंगल में एक मध्य तोरण का निर्माण कराया था। गणपति की दो कन्याएँ थीं। रुद्राम्बा और गणपाम्बा। अपने जीवनकाल मे ही उसने अपना उत्तराधिकार रुद्राम्बा को दिया, जब कि उसके दो पुत्र भी थे। इसकी अन्तिम ज्ञात तिथि 1261 ई० है।

बोध प्रश्न

1. काकतीय वंश के प्रारम्भिक इतिहास का वर्णन करते हुए, गणपति की उपलब्धियों का भी वर्णन करे।

उत्तर.....

.....

.....

.....

11.4 रुद्राम्बा (1259 ई० –1265 ई०)

अपने पिता गणपति के शासनकाल मे ही यह युवराज के रूप मे शासन का दायित्व संभाल रही थी। सत्ता मे आने बाद इसने 'रुद्रदेव' महाराज के नाम से शासन संचालन किया एवं राज दरबार मे यह पुरुष वेश में शासन करती थी और युद्धों का भी नेतृत्व करती थी। गणपति, कम–से–कम 1270 ई० तक जीवित रहा, अतः निश्चित तौर पर उसे प्रशासन मे अपने पिता का सहयोग भी मिला रहा होगा। यद्यपि सत्ता संभालने के पश्चात् उसके लिए शासन संचालन आसान नहीं थी, इस अवधि में काकतीय राजवंश विपत्तियों से घिरा था। उसके सीमावर्ती पाण्ड्य नृप जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य और यादव नृप महादेव उसके प्रबल शत्रु थे। प्रतापचरित नामक ग्रंथ से ऐसी जानकारी प्राप्त होती है कि तत्कालीन प्रशासन के बहुत सारे लोग उसके महिला होने के कारण उसके राज्यारोहण को नापसंद करते थे जिसमे मुख्य रूप से गणपतिदेव की दूसरी पत्नी से उत्पन्न मुरारिदेव और हरिहरदेव भी थे, जिन्हें उत्तराधिकार प्राप्त नहीं हुआ था। इन विद्रोहियों ने परस्पर संगठित होकर रुद्राम्बा का विरोध किया एवं वारंगल पर अधिकार कर रुद्राम्बा को अपदस्थ कर दिया। यद्यपि शीघ्र ही रुद्राम्बा ने अपने साहस एवं चातुर्य से अपने समर्थकों कि सहायता से तथा प्रजा को भी अनुकूल बनाकर वारंगल दुर्ग पर अधिकार कर लिया तथा विद्रोह को दबाकर अपने प्रतिद्वन्द्वी भाइयों को मार डाला।

रुद्राम्बा ने आन्तरिक विद्रोह समाप्त करके अपने प्रशासन में स्थायित्व तो ला दिया किन्तु उसके सीमावर्ती राज्यो के आक्रमण के कारण साम्राज्य को स्थायी

रखना बहुत कठिन हो गया। कलिंग शासक गजपति नरसिंह प्रथम जिसे गणपति ने परास्त किया था एवं गोदावरी के निकटवर्ती भूभाग पर अधिकार कर लिया था उसने पुनः उसे अपने अधिकार मे मिला लिया।

रुद्राम्बा के शासनकाल के आरम्भिक सोलह वर्षों में ऐसा कोई भी कोई प्रमाण नहीं मिलता जो यह पुष्टि करे कि गोदावरी एवं वेंगी जनपद के निकटवर्ती भू–भाग पर उसका अधिकार था। दूसरी तरफ पाण्ड्य शासक जटावर्मन् सुन्दरपाण्डय प्रथम ने नेल्लीर आादि जनपदों को काकतीयों से मुक्त कराकर अपने अधीनस्थ त्रिभुवन चक्रवर्ती वीर राजेन्द्र चोल (राजेन्द्र तृतीय) को दे दिया। इसी बीच काकतीय सामन्त अम्बदेव महाराज ने विद्रोह कर और पाण्ड्य राजवंश की सहायता से वेल्लूरी पट्टन में स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली। साथ ही, यादवों की सहायता से करनूल और कुडुपट्ट जिलों में अपना शासन स्थापित कर लिया। नेल्लूरपुर में गंगोपाल भी स्वतंत्र हो गया।

रुद्राम्बा के लिए सबसे बड़ी चुनौती सेउण यादवों की ओर से खड़ी की गयी, जिसके कारण सिंहण के पुत्र सम्भृणपाल जिसे यादव नृप कृष्ण और महादेव ने देवगिरि से भगा दिया था को काकतीय राजवंश मे संरक्षण देना एवं उसे पानुंगल क्षेत्र में शासक नियुक्त करना था। अतः यादव शासक महादेव ने अवसर देखकर रुद्राम्बा पर आक्रमण किया, जिसमे रुद्राम्बा पराजित हुई। यादव शासक महादेव ने विजय के प्रतीक के रूप मे कुछ हाथी और रणवाद्य काकतीयों से छीन लिये एवं पराजित रुद्राम्बा को अपदस्थ नहीं किया। सम्भवतः यादवों के इस आक्रमण का कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम नहीं हुआ था। हेमाद्रि के अनुसार महादेव ने उसे स्त्री समझकर मुक्त कर दिया। कुछ सामन्ती क्षेत्रों के स्वतंत्र होने के बाद भी वारंगल में रुद्राम्बा स"ाक्त रूप से शासन करती रही। मार्कोपोलो ने उसके शासनकाल की बहुत प्रशंसा की है। रुद्राम्बा के पश्चात उसका उत्तराधिकारी प्रतापरुद्र हुआ, जिसे उसने गोद लिया था। यद्यपि प्रतापरुद्र लगभग 1290 ई० से ही उसके साथ युवराज की भांति शासन और युद्धभूमि में सहयोग कर रहा था।

बोध प्रश्न

2. एक शासिका के तौर पर रुद्राम्बा के विजयों एवं उपलब्धियों का वर्णन करें।

उत्तर .....

.....

.....

.....

11.5 प्रतापरुद्र एवं काकतीय वंश का पतन

प्रतापरुद्र (1295 ई०–1323 ई०)

रुद्राम्बा के शासनकाल मे काकतीय राज्य के कई सामंतों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना कर ली थी, अतः प्रतापरुद्र ने सत्ता को संभालते ही अपना ध्यान काकतीय राज्य के पुनर्गठन पर ध्यान दिया। उसने काकतीय सामन्त राज्यों को पुनः जीत कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इस क्रम में उसने सर्वप्रथम अमंगदेव पर आक्रमण कर वेल्लूरी पाटन को अपने अधीन कर लिया। उसके सेनापति अडिडम्म ने नेल्लोर पर आक्रमण करके गंगोपाल को युद्ध में मार कर आधे से अधिक नेल्लोर राज्य पर अधिकार स्थापित कर लिया। जिस समय प्रतापरुद्र अपने साम्राज्य को स''ाक्त कर रहा था उसी समय दक्षिण भारत मे मुस्लिम आक्रमण का खतरा उत्पन्न हो गया।

अलाउद्दीन खिल्जी की ओर से मलिक काफूर ने दक्षिण मे अभियान किया जिसके कारण उसे अपने साम्राज्य विस्तार के अभियान को रोककर वह मलिक काफूर का सामना करने के लिए आगे बढ़ा। उसने बड़ी ही वीरता से मलिक काफूर का प्रतिरोध किया एवं लगभग 6 महीने के युद्ध के जब कोई भी परिणाम ना दिखता देख उसने बहुत भारी मात्रा मे धन देकर उसने मलिक काफूर से सन्धि कर ली। संधि के पश्चात् वह पुनः अपने दक्षिणी अभियान का संचालन करने लगा।

1310 ई० में मलिक काफूर से सन्धि करने के बाद उसने नेल्लोर पर आक्रमण किया और विजय गंगोपाल को पराजित किया। इसके पश्चात् उसने काँची पर आक्रमण करके उसने कांची पर भी अधिकार कर लिया। अपने साम्राज्य विस्तार के क्रम मे उसने आगे बढ़ते हुए होयसलों को युद्ध मे पराजित करके त्रिचनापल्ली पर भी अधिकार कर लिया। विजय के क्रम मे उसने पाण्डयों पर भी आक्रमण किया एवं उन्हे भी युद्ध मे पराजित किया। अपने सीमावर्ती एवं परम्परिक शत्रु यादववंशी रामचन्द्र पर भी आक्रमण कर उसे पराजित किया।

अपनी इन विजयों के परिणामस्वरूप उसने गोदावरी नदी से त्रिचनापल्ली से बंगाल की खाड़ी के तट तक अपने साम्राज्य को विस्तृत कर लिया। इसके अभिलेख त्रिचनापल्ली, चिगिलेपुर कर्नूल, नेल्लौर, गुण्टूर कृष्णा और गोदावरी जिलों से पाये गए है, जो इस बात की पुष्टि करते है कि उसका साम्राज्य–विस्तार इन भागों मे फैला हुआ था। 1322 ई० में सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक की ओर से उलग खाँ ने वारंगल पर आक्रमण किया। इस युद्ध में प्रतापरुद्र कि पराजय हुई एवं वह बन्दी बना लिया गया तथा दिल्ली ले जाते

समय वह मार्ग ही में मर गया। प्रतापरुद्र, काकतीय वंश का अंतिम शासक था इसके पश्चात काकतीय वंश का अन्त हो गया। प्रतापरुद्र एक महान सेना नायक एवं कुशल शासक था इसके अतिरिक्त वह कला, स्थापत्य एवं विद्या–प्रेमी था। उसके संरक्षण में कवि विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' नामक काव्य की रचना की।

बोध प्रश्न

3. काकतीय शासक प्रतापरुद्र के शासनकाल एवं उपलब्धियों की व्याख्या करें ।

उत्तर .....

.....

.....

.....

11.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– देखें उपभाग 11.2 एवं 11.3

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– देखें उपभाग 11.4

बोध प्रश्न 3.

उत्तर– देखें उपभाग 11.5

11.7 सारांश

काकतीय राजवंश का काल लगभग 10 वीं शती ई. से लेकर 1323 ई. तक का माना जाता है। इस काल मे जहाँ इस वंश के शासको ने एक कुशल राजनीतिक एवं सैन्य शासन व्यवस्था कि स्थापना की वहीं दूसरी तरफ कला और संस्कृति में उनका योगदान आज भी अपने भौतिक प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है। 1163 ई. में राजा गणपतिदेव द्वारा बनवाया गया 19 वर्ग किमी मे फैला किला आज भी पूरे भारत में सबसे बड़े हिंदू किला परिसरों में से एक है। काकतीय राजवंश के लगभग 240 वर्षों के शासन मे, उन्होंने सैन्य विस्तार, सांस्कृतिक विकास और तकनीकी प्रगति के मामले में जबरदस्त उपलब्धियाँ हासिल कीं। उन्होंने वारंगल किले जैसे ऐसे स्मारकों को पीछे छोड़ा जो उनके वैभव एवं कला प्रेम का भौतिक प्रमाण है, जो आज भी हर साल लाखों पर्यटकों

को आकर्षित करते हैं।

11.8 शब्दावली

- वारंगल–वर्तमान तेलंगाना प्रांत मे अवस्थित
- नलगोंडा–तेलंगाना प्रांत मे अवस्थित जिला

11.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहत् इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालयः मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

इकाई–12 चोल वंश प्रारम्भिक इतिहास–परान्तक प्रथम, राजराज प्रथम, राजेंद्र चोल, कुलोत्तुंग प्रथम

इकाई की रुपरेखा

12.0 प्रस्तावना

12.1. उद्देश्य

12.2 चोल वंश का प्रारम्भिक इतिहास

12.2.1 परान्तक प्रथम

12.2.2 राजराज प्रथम

12.2.3 राजेन्द्र चोल

12.2.4 कुलोत्तुंग प्रथम

12.2.5 परवर्ती शासक एवं पतन

12.3 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.4 सारांश

12.5 शब्दावली

12.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

12.0 प्रस्तावना

कावेरी घाटी के साथ सुदूर दक्षिण भारत की प्रायद्वीपीय राजनीति में दसवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में कई शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण राजशक्तियों का उदय हुआ। इनमें से कुछ का उल्लेख तो संगम युगीन साहित्य (लगभग 100 ई० से 300 ई० के मध्य) में भी प्राप्त होता है। इन्ही में से एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में चोल राजवंश का उदय विशेष उल्लेखनीय है। चोल साम्राज्य का प्रारम्भिक विस्तार का क्षेत्र चोडमंडलम् मोटे तौर पर पेन्नार एवं बेल्लारू नदियों के मध्य स्थित था जो पूर्वी–समुद्र तट से जुड़ा हुआ था। चोलों ने अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य से वर्तमान तमिलनाडु प्रदेश मे अपने स्थायित्व को बनाए रखते हुए, साम्राज्य–विस्तार के क्रम में अपनी राजधानी परिवर्तित करते रहे। इनके प्रमुख राजनीतिक केन्द्रों में उत्थान के दिनों में उरगपूर अथवा उरैयूर (त्रिचनापल्ली के निकट वर्तमान उरैयूर), एवं बाद के काल में

कावेरीपट्टनम् (कावेरी नदी के तट पर), तंजुवुर (तंजोर अथवा थंजाउर), काँची तथा गंगैकोंडचोलपुरम् आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। लगभग 400 वर्षों के शासनकाल मे चोल शासकों ने केवल सैन्य विस्तार एवं साम्राज्य विस्तार ही नहीं किया, अपितु उन्होने इस क्षेत्र को स्थायित्व प्रदान किया जिसके परिणामस्वरूप इनके राज्य में स्थानीय स्वशासन से लेकर वास्तुकला, मूर्तिकला, स्थापत्य कला का अतुलनीय विकास हुआ।

12.1. उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य चोल वंश के इतिहास के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1. चोल वंश के प्रारंभिक इतिहास एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि के बारे में।
2. चोल वंश के प्रारंभिक शासकों के सन्दर्भ में।
3. चोल वंश के महत्वपूर्ण शासकों यथा–परान्तक प्रथम, राजराज प्रथम, राजेंद्र चोल, कुलोत्तुंग प्रथम एवं उनकी राजनीतिक उपलब्धियों के विषय में।
4. चोल वंश के शक्तिशाली शासकों के सैन्य अभियानों एवं साम्राज्य विस्तार के संदर्भ में।
5. चोल वंश के परवर्ती शासकों एवं पतन के संदर्भ मे।

12.2 चोल वंश का प्रारम्भिक इतिहास

महाभारत तथा मेगस्थनीज द्वारा रचित 'इन्डिका' में चोलों का प्राचीन उल्लेख मिलता है। अशोक के अभिलेखों में दक्षिण भारत में उसके साम्राज्य के सीमान्त राज्यों के रूप में में एवं सिंहली बौद्ध ग्रंथ तथा संस्कृत वैय्याकरणकार कात्यायन ने 'वार्तिक' में चोलों का उल्लेख किया है। चोलवंश के शासक पल्लव नरेशों के अधीन सामन्त शासक के रूप में कावेरी नदी के तटवर्ती क्षेत्रों पर शासन कर रहे थे। सामन्त शासक के रूप में चोलों द्वारा धीरे–धीरे उरगपूर अथवा उरैयूर के आस–पास क्षेत्र में अपनी शक्ति का विस्तार करने लगे। तिरुवालंगाडु–ताम्रपत्र अभिलेख से ज्ञात होता है कि विजयालय (850 ई० से 871 ई०) ने दक्षिण में पाण्ड्यों के अधीनस्थ मुत्तरैयरों से तन्जौर–क्षेत्र पर अधिकार कर लिया एवं तंजौर को अपनी राजधानी बना लिया।

विजयालय के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी आदित्य प्रथम ने 871 ई० में सत्ता संभाली। आदित्य प्रथम ने अपने शासन की शुरुआत पल्लव नरेश अपराजित के अधीन सामन्त के रूप में की थी। पाण्ड्यों के विरुद्ध युद्ध मे इसने पल्लव शासक अपराजित का साथ दिया जिसके परिणामस्वरूप युद्ध मे विजयी होने के पश्चात् पल्लव शासक ने तन्जौर के आसपास के विजित पाण्ड्य प्रदेशों को उसे दे दिया। तिरुवालंगाड्डु ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि इस विजय के पश्चात् आदित्य प्रथम ने साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करते हुए पल्लव शासक अपराजित के विरुद्ध विद्रोह करके उसकी हत्या कर दी, इस उपलक्ष्य में उसने 'कोदन्डराम' विरुद् धारण किया। इस विजय के पश्चात चोल राज्य की सीमा अब राष्ट्रकूट राज्य की सीमा तक पहुंच गई। सैन्य विजय के साथ ही साथ आदित्य प्रथम ने कूटनीति के सहारे उस समय के दक्षिण भारत के महत्वपूर्ण राजवंशो के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किया, इनमें मुख्य रूप से पल्लव राजकन्या से विवाह एवं उसके पश्चात् राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण द्वितीय की पुत्री इलंगोनपिच्चि से विवाह करके उसे अपनी प्रधान महामहिषी बनाया। इसी प्रकार अपने पुत्र परान्तक प्रथम का विवाह चेरनरेश स्थानूर्वी के पुत्री के साथ करके दोनों राज्यों के मध्य के मैत्री–सम्बन्ध को सुदृढ किया था।

12.2.1 परान्तक प्रथम (907–955 ई०)

आदित्य प्रथम की मृत्यु के पश्चात् 907 ई० में उसका पुत्र परान्तक प्रथम शासक हुआ। शासक बनने के पश्चात् उसका पहला संघर्ष राष्ट्रकूट शासक कृष्ण द्वितीय एवं उसके सामंतों यथा बाण एवं वेदुम्बों से हुआ जो अपने दौहित्र तथा परान्तक प्रथम के सौतेले भाई कन्नर देव को शासक बनाना चाहता था। राजेन्द्र चोल के शासनकाल का कन्याकुमारी से प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है कि इस युद्ध परान्तक प्रथम ने कृष्ण द्वितीय को उसके सामंतों के साथ पराजित किया था एवं विजय के उपलक्ष में उसने 'वीरचोल' नामक विरुद् धारण किया। यह युद्ध संभवतः वल्लाल–क्षेत्र (उत्तरी अर्काट में तिरुवल्लभ स्थान) मे हुआ था जिसमे परान्तक प्रथम को गंग नरेश पृथ्वीपति का सहयोग प्राप्त हुआ था।

साम्राज्य विस्तार के क्रम में परान्तक प्रथम का संघर्ष पाण्ड्य–राज्य के शासक राजसिंह द्वितीय से हुआ। संभवत इनके मध्य युद्ध कई चरणों मे हुआ जिसमे अंततः परान्तक प्रथम विजित हुआ एवं विजय के उपलक्ष में 'मदुरान्तक' तथा 'मदुराइकोड' की उपाधि धारण की। बौद्ध ग्रंथ 'महावंश' से ज्ञात होता है कि पाण्ड्य–नृपति राजसिंह द्वितीय युद्ध मे पराजित होने के पश्चात अपने मित्र सिंहल के शासक कस्सप पंचम से सैनिक सहायता मांगी। सिंहल–राज्य एवं

पाण्ड्यों की सम्मिलित सेना के साथ परान्तक प्रथम का चेल्लूर के मैदान में युद्ध हुआ, जिसमें अंतिम रूप से पाण्ड्य पराजित हुए। इस विजय के उपलक्ष में परान्तक प्रथम ने 'संग्रामराघव' की उपाधि धारण की। इन विजयों के फलस्वरूप परान्तक प्रथम का राज्य दक्षिण में कन्याकुमारी तक विस्तृत हो गया।

परान्तक प्रथम को अपने शासनकाल के अन्तिम वर्षों में राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय एवं उसके सामंतों के संयुक्त सैनिक संगठन का प्रतिरोध झेलना पड़ा जिसमें राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण प्रथम को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई एवं उसने तोंडमण्डलम् क्षेत्र पर अधिकार कर लिया तथा उसे राष्ट्रकूट राज्य में मिला लिया। पश्चिमी गंग राज्य के शासक बूत्तुग द्वितीय की सहायता से कृष्ण प्रथम ने आगे बढ़कर तक्कोलम् के युद्ध में निर्णायक रूप से परान्तक प्रथम को दोबारा पराजित किया। लीडेन अनुदान–पत्र से ज्ञात होता है कि इसी युद्ध में गंग शासक बूत्तुग ने चोल राजकुमार राजादित्य की हत्या भी कर दी। इस विजय के फलस्वरूप राष्ट्रकूटों ने तोंडमण्डलम् तथा मदुरा के आस–पास स्थित भू–भागों को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

परान्तक शैव मतानुयायी था। उसने स्वयं चिदम्बरम–मन्दिर के गर्भ गृह में स्थापित शिव–नटराज चिदम्बरम् की प्रतिमा के लिए ढेर सारे आभूषणों को दान दिया था। 955 ई० में परान्तक प्रथम की मृत्यु के पश्चात् लगभग 985 ई० तक का चोल इतिहास अत्यंत अशांतिपूर्ण काल है। लगभग तीस वर्षों के शासन में चोल सत्ता पर बड़े अल्प काल के क्रमशः निम्न शासकों ने राज्य किया, इनमे क्रमशः गंगरादित्य (953 ई० से 965 ई० तक) अरिंदिगै 956 ई० से 957 ई० तक) तथा सुन्दर चोल अथवा परान्तक द्वितीय (956 ई० से 973 ई० तक) प्रमुख थे। इन सभी शासकों में सुन्दर चोल विशेष रूप से साहसी तथा पराक्रमी था। करकन्दै तथा लीडन दानपत्रों से ज्ञात होता है कि अपने युवराज एवं पुत्र के साथ मिलकर उसने पाण्ड्य राज्य पर आक्रमण कर तत्कालीन पाण्ड्यनृपति वीरपाण्ड्य को चेवूर के मैदान में पराजित उसकी हत्या कर दी।

पाण्ड्यों पर विजय के पश्चात् सुंदर चोल ने सिंहल देश पर भी आक्रमण किया, किन्तु असफल रहा। इसकी मृत्यु के कुछ माह पहले ही संभवतरू उत्तर चोल ने उसके युवराज पुत्र आदित्य द्वितीय को मार कर चोल सत्ता पर अधिकार कर लिया। परान्तक प्रथम के मृत्यु के लगभग 30 वर्षों बाद 985 ई० में परान्तक द्वितीय (सुन्दर चोल) का कनिष्ठ पुत्र अरिमोलिवर्मन् प्रथम जिसका उपनाम राजराज प्रथम चोल था, चोल सत्ता पर आसीन हुआ। जिसने न केवल चोल साम्राज्य को दक्षिण भारत का सबसे विस्तृत एवं शक्तिशाली साम्राज्य बनाया, अपितु नवीन प्रशासन प्रणाली से स्थायित्व की भी स्थापना की।

बोध प्रश्न

1.चोल वंश के प्रारम्भिक इतिहास का वर्णन करते हुए, परान्तक प्रथम कि उपलब्धियों कि व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

12.2.2 राजराज प्रथम (985–1014 ई०)

चोल राजवंश को न केवल दक्षिण भारत अपितु समूचे भारत के एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजवंश के रूप मे स्थापित करने का श्रेय राजराज को जाता है। राजराज अरिमौलिवर्मन् परान्तक द्वित्तीय सुन्दर चोल का पुत्र था। इसने युवराज के रूप मे उत्तम चोल के शासनकाल में प्रशासनिक कार्यों में भाग लिया था। इसे उत्तराधिकार में एक संकुचित एवं छोटा सा राज्य मिला था, जिसे इसने अपने तीस वर्षीय शासनकाल में अपने नवाचार एवं प्रयोगों के माध्यम से चोल राजत्व और समृद्धि के रूप में दृढ़ आधार प्रदान किया। अतएव इसने सबसे पहले अपने प्रशासन और सेना को संगठित किया, उसके पश्चात् अपने सामरिक अभियानों को प्रारम्भ किया। डा० बी० वेंकय्या का मानना है कि उसने अपने शासन–काल के प्रारम्भिक आठ वर्षों में कोई महत्वपूर्ण सामरिक अभियान नहीं किया एवं पूरा ध्यान आन्तरिक स्थिति को मजबूत करने में लगाया। राजराज प्रथम के शासन काल के 29वें वर्ष में उत्कीर्णित तंजौर–अभिलेख से इसके सामरिक अभियानों की जानकारी प्राप्त होती है, इसमे इसके शासनकाल के नवें वर्ष अर्थात् 994 ई० से लेकर लगभग 1002 ई० तक के सामरिक अभियानों का विवरण प्राप्त होता है। नीलकण्ठ शास्त्री का मानना है कि इसके राजत्व का काल चोल–साम्राज्य का सर्वाधिक रचनात्मक काल माना जा सकता है। तिरुवालंगाडु दानपत्र लेख से ज्ञात होता है कि संभवतः राजराज प्रथम ने अपने शासनकाल के आठवें वर्ष में पाण्ड्य जनपद पर आक्रमण कर दिया। नीलकण्ठ शास्त्री के अनुसार उक्त सैन्य अभियान मे राजराज ने क्रमशः पाण्ड्य, केरल एवं सिंहल राज्यों के नरेश जिन्होने एक संयुक्त सैनिक–मोर्चे का गठन किया था को एक–एक करके पराजित किया। सर्वप्रथम राजराज चोल ने केरल राज्य पर आक्रमण कर कांडलूर (त्रिवेन्द्रम) में केरल के शासक भास्कर रविवर्मन् को पराजित किया एवं इसके उपलक्ष में 'कांडलूर शालैवककलमरुत्' की उपाधि धारण की। इस विजय के पश्चात

राजराज चोल ने मदुरा पर आक्रमण किया एवं पाण्ड्य शासक अमरभुजंग को पराजित कर बन्दी बना लिया। इस सफल अभियान के क्रम में आगे बढ़ते हुए उसने कोल्लम् एवं कोंडुगोलूर के शासकों को पराजित कर मलयनाड (कूर्ग), कान्दलूर एवं विलिन्द जैसे दुर्गों को जीत लिया।

राजराज प्रथम चोल के 20वें वर्ष के अभिलेख से इन विजयों की पुष्टि होती है। श्रीलंका (सिंहल) के राजा महेन्द्र पंचम् ने केरल एवं पाण्ड्य शासकों पर चोलों के आक्रमण के दौरान सैन्य सहायता प्रदान की थी। अतः केरल एवं पाण्ड्य शासकों के ऊपर विजय के पश्चात राजराज प्रथम ने दक्षिणी–समुद्र को पार कर सिंहल देश की राजधानी अनुराधपुर आक्रमण कर उसे बुरी तरह आक्रान्त कर दिया। राजराज प्रथम ने विजित सिंहल प्रदेश को संकेंद्रित करके उसका नाम 'मामुण्डिचोलमण्डलम्' रखा एवं राजधानी पोलोन्नरुवा का नाम परिवर्तित करके 'जननाथमंगलम' रखा एवं जनन्नाथ उपाधि धारण किया। अपनी विजय के उपलक्ष्य में राजराज प्रथम चोल ने सिंहल देश में द्रविड़–वास्तु–शैली में विशाल वास्तु एवं शिव– मंदिरों का निर्माण कराया। राजराज प्रथम चोल के छठें वर्ष के अभिलेख से नोलम्बों एवं गंगों के विरुद्ध अभियानों का उल्लेख मिलता है। इसी अभिलेख में उसकी उपाधि 'चोलनारायण' का भी उल्लेख मिलता है।

973 ई० में तैलप द्वितीय ने राष्ट्रकूट शासक कर्क द्वितीय को सत्ता से हटकर कल्याणी के चालुक्य वंश की नीव डाली एवं चालुक्य एवं चोल संघर्ष के एक नए दौर से शुरुवात हुई ।कल्याणी के नरेश तैलप द्वितीय ने 980 ई० के लगभग चोल नरेश उत्तम चोल को पराजित किया था। उसकी मृत्यु के उपरान्त 997 ई० में उसका योग्य पुत्र सत्याश्रय ने कल्याणी की सत्ता संभाली। दूसरी तरफ चोल सत्ता पर राजराज प्रथम आसीन हुआ, जो सत्याश्रय का समकालीन था। दोनों शक्तियों के मध्य संघर्ष का मुख्य कारण बेंगी–राज्य पर अपना प्रभाव स्थापित करने को लेकर था। 993 ई० में कल्याणी के चालुक्य शासक ने वेंगी के शासक दानार्णव की हत्या कर उसके साले तेलगू–जटाचोडभीम को सत्ता सौंप दी। ऐसे में दानार्णव के दोनों पुत्रों ने चोल–साम्राट् राजाराज प्रथम के पास जाकर आश्रय लिया।

राजराज प्रथम ने जटाचोडभीम को वैध उत्तराधिकारी के पक्ष में सत्ता छोड़ने के लिए राजाज्ञा प्रेषित की। किन्तु जटाचोडभीम ने प्रस्ताव को ठुकरा दिया। अतः राजराज प्रथम चोल ने वेंगी पर सीधा आक्रमण कर जटाचोडभीम की हत्या करके वेंगी राज्य पर अधिकार कर लिया एवं दानार्णव के ज्येष्ठ पुत्र शक्तिवर्मन् को सत्ता सौंप दी। वेंगी राज्य पर अपने प्रभाव को बढ़ते हुए राजराज ने उसके

समीपवर्ती राज्यों पर अधिकार करना शुरू कर दिया। अतः चोलों एवं चालुक्यों का संघर्ष अवश्यभावी हो गया। कल्याणी के नरेश सत्याश्रय ने 1006 ई० में वेंगी राज्य पर आक्रमण कर शक्तिवर्मन् एवं राजराज प्रथम की सेना को पीछे हटने के लिए मजबूर कर दिया एवं वेंगी के कुछ हिस्सों पर अधिकार कर लिया।

तिरवालंगाडु ताम्रपत्र अभिलेखों से ज्ञात होता है कि निर्णायक रूप से सत्याश्रय को पराजित करने के लिए राजराज प्रथम एक विशाल चोल–सेना के साथ युद्ध–भूमि में उतार गया। जिसके परिणामस्वरूप चालुक्य नरेश सत्याश्रय ने डरकर युद्ध भूमि छोड़ दी। इस अभियान में राजराज ने बड़ी ही व्यावहारिक सामरिक नीति अपनाई। राजराज चोल ने अपने युवराज राजेन्द्र चोल के नेतृत्व में 9 लाख सैनिकों को सीधे कल्याणी के चालुक्य राज्य की दक्षिणी सीमा पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। होट्टूर अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजेन्द्र चोल ने क्रमशः सान्तलिगे, बनवासी, कादम्बलिगे तथा कोगली, ऊकल्लु आदि प्रदेशों को जीत लिया। विजय के अतिरिक्त राजेन्द्र चोल ने कल्याणी के वैभव एवं धन–जन को गम्भीर क्षति पहुँचाई। कल्याणी पर पड़ते दबाव के कारण सत्याश्रय को अपने सैन्य अभियान को बीच में ही छोड़ कर राजधानी की ओर लौटना पड़ा एवं बड़ी ही कठिनाई से उसने राजेंद्र चोल को तुंगभद्रा नदी से पीछे हटने के लिए विवश कर दिया। तंजोर–अभिलेख से ज्ञात होता है कि इन युद्धों मे विजित विपुल संपत्ति को तंजौर के शिव मंदिर को भेंट कर दिया। वेंगी को सुरक्षित करने के पश्चात् राजेंद्र चोल ने कलिंग प्रदेश पर आक्रमण कर उसे भी चोल साम्राज्य में मिला लिया।

राजराज चोल प्रथम ने अपने सीमावर्ती राज्यों पर विजय के पश्चात् अपने सामरिक अभियान को दक्षिण पूर्वी एशिया देशों की ओर बढ़ाया। संभवतः इसका कारण चोलों की साम्राज्यवादी नीति के साथ–साथ दक्षिण पूर्वी एशिया देशों से होने वाले व्यापारिक लाभ पर भी अपना अधिकार करना रहा होगा। तिरुवालंगाडु–अभिलेख से राजेंद्र प्रथम के दक्षिण पूर्वी एशिया देशों पर किए गए अभियानों का पता चलता है। अपने शक्तिशाली नौसेना की सहायता से राजराज प्रथम ने बंगाल की खाड़ी को पार कर श्रीविजय (पालेमवंग), कटाह (कोडा) तथा मलाया (मलय) आदि द्वीपीय राज्यों को जीत कर चोल–साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। अभिलेखीय वृत्तान्तों में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि राजराज ने 12000 द्वीपों पर अधिकार किया था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह दक्षिण पूर्वी राज्यों पर विजय कि अतिरंजित व्याख्या ज्यादा है।

राजराज प्रथम ने जिस विखण्डित चोल साम्राज्य को उत्तराधिकार में प्राप्त किया

था, उसे इसने अपने सामरिक विजयों के माध्यम से उत्तर में तुंगभद्रा से लेकर सम्पूर्ण दक्षिण भारत तक विस्तृत कर दिया एवं शासनकाल के अंतिम वर्षों मे इसका विस्तार मालदीव द्वीप समूहों तक फैल गया। राजराज प्रथम एक महान् विजेता एवं साम्राज्य–निर्माता होने के साथ ही श्रेष्ठ प्रशासक भी था, इसने अपने विशाल साम्राज्य की भूमि को पैमाईश तथा सर्वेक्षण कराकर स्वस्थ स्वायत्तशासी लोकप्रशासन को दिशा प्रदान की। इसके अतिरिक्त उसने अपने सामरिक अभियानों को ध्यान में रखते हुए एक शक्तिशाली सेना एवं सुसज्जित सशस्त्र जहाजी बेड़े को संगठित किया, जिसके परिणामस्वरूप उसने मलय, श्रीविजय एवं अरब सागर के तटीय देशों के साथ मजबूत व्यापारिक सम्बन्धों की नींव रखी।

धार्मिक दृष्टि से राजराज प्रथम शैव–धर्मावलम्बी था, इसके साथ ही साथ वह अन्य धर्मों के प्रति भी पूर्ण सहिष्णु था।इसके शासनकाल मे कृष्ण–मुरलीधर तथा विष्णु–पद–चिन्ह अंकित सिक्के जारी किए गए, साथ ही उसने शैलेन्द्र नरेश श्रीमारविजयोतुङ्गवर्मन् को चूड़ामणि नामक बौद्ध–विहार के निर्माण के लिए आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया था। उसने स्वयं 'शिवपादशेखर' की उपाधि धारण की थी। तंजौर का विशाल 'राजराजे''वर मन्दिर' अथवा बृहदी''वर शिव–मन्दिर, द्राविड़–वास्तु एवं स्थापत्य–शिल्प का जो उदाहरण प्रस्तुत करता है उसका श्रेय राजराज प्रथम को जाता है। यह मंदिर द्राविड़ियन चोल मन्दिर वास्तु कला शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। एक शक्तिसम्पन्न एवं पराक्रमी शासक होने के साथ ही साथ राजराज प्रथम, विद्यानुरागी, एवं कलाविद् भी था, उसने रविकुलमाणिक्य, मुम्मडिचोलदेव, तेलंग–कुल–काल, चोड़मार्तण्ड, केरलानाथ, जयगोंड आदि उपाधियाँ धारण की थी।

बोध प्रश्न

2. राजराज प्रथम कि विजयों एवं उपलब्धियों कि व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

12.2.3 राजेन्द्र चोल (1012–1044 ई०)

राजेन्द्र प्रथम ने अपने पिता राजराज प्रथम के पश्चात् चोल नरेश के रूप मे सत्ता संभाली, वह निश्चित तौर पर एक योग्य पिता का योग्यतम पुत्र था।

पहले युवराज एवं चालुक्यों के विरुद्व युद्ध मे उसने अपने कौशल एवं योग्यता का प्रदर्शन किया था। राजराज प्रथम से उत्तराधिकार मे उसे एक सुकेन्द्रित सेना एवं प्रशासन प्राप्त हुआ था, जिसे उसने अपने 33 वर्षों के शासन काल में ना केवल अक्षुण्ण बनाए रखा अपितु इसके काल में चोल सत्ता का सर्वांगीण विकास हुआ। 1014 ई० में राजेन्द्र प्रथम ने वास्तविक शासक के रूप में चोल सत्ता संभाली। राजेन्द्र प्रथम चोल ने चोल–साम्राज्य की सीमा का विस्तार कर न केवल उस समय के तत्कालीन भारतीय राज्यों में सर्वाधिक शक्तिशाली एवं वैभवसम्पन्न बना अपितु, दक्षिणी–पूर्वी–एशिया के द्वीप समूहों पर अधिकार कर एक अंतर्देशीय साम्राज्य कि स्थापना की।

तिरुवालंगाडु ताम्रपत्रों एवं करेंडे दानपत्रों से राजेन्द्र प्रथम के सामरिक अभियानों की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है, अपने युवराजत्व काल में ही इसने चालुक्य नरेश सत्याश्रय को पराजित करके बलपूर्वक रामचूर, बनवासी, हैदराबाद, मान्यलेट और रट्टपाडि आदि क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। तिरुवालंगाडु ताम्रपत्रों से ज्ञात जानकारी के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लगभग 1007 ई० चालुक्य नरेश सत्याश्रय ने चोलों के उत्तर तरफ के अभियान को रोक दिया था। संभवतः 1008 ई० मे पुनः राजेन्द्र प्रथम ने अपने सामरिक अभियान के तहत इन क्षेत्रों पर पुनः विजय प्राप्त की जिसका संदर्भ हिट्टूर अभिलेख से प्राप्त होता है ।

राजेन्द्र प्रथम ने अपने शासनकाल के छठे वर्ष अर्थात् 1018 ई० में केरल राज्य पर आक्रमण किया जिसका उल्लेख तिरुवालंगाडु ताम्रपत्रों से प्राप्त होता है जिसमे वर्णित है कि निर्भीक एवं पराक्रमी मधुरान्तक राजेन्द्र प्रथम ने सह्य पर्वत की दुर्गम श्रेणियों को लॉधते हुये विशाल चोल सेना के साथ केरल राज्य पर आक्रमण कर केरल के शासक एवं उसके सहयोगी राजाओं को पराजित किया। अपने इसी अभियान के क्रम में सम्भवतः इसी वर्ष उसने पाण्ड्य राज्य पर भी आक्रमण किया था, एवं विजय के पश्चात केरल एवं पाण्ड्य राज्यों पर शासन के लिए अपने पुत्र को राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया ।

राजेन्द्र प्रथम ने अपने शासनकाल के पांचवे वर्ष मे ईलमंडलम(लंका) पर विजय प्राप्त की थी। तिरुवालगाडु ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि इससे पहले राजराज प्रथम ने भी सिंहल द्वीप पर आक्रमण कर उस पर विजय प्राप्त की थी, जिसका उल्लेख करते हुए अभिलेखकार ने इस विजय को श्रीरामचन्द्र के सदृश साहसी एवं महापराक्रमी बताया है। महावंश से ज्ञात होता है कि राजेन्द्र प्रथम ने सिंहल–देश के शासक महिंद (महेन्द्र) पंचम् के शासनकाल के 36वें वर्ष में आक्रमण किया था। चोल अभिलेखों में स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि

राजेन्द्र प्रथम चोल ने लगभग सम्पूर्ण ईलमन्डल (सिंहल राज्य) पर अधिकार कर वहाँ शासन सत्ता की स्थापना की। सिंहल विजय के पश्चात राजेन्द्र प्रथम ने वहां के शासक महिन्द (महेन्द्र) पन्चम् को अपने कारागृह मे लगातार 12 वर्ष तक रखा एवं अपने सम्भवतः इसी बन्दीगृह में 1029 ई० में सिंहल नरेश की मृत्यु हो गई।

चोल नरेशों के प्रशस्ति–पत्रों से ज्ञात होता है कि राजेन्द्र चोल ने अपने पुत्र विक्रम चोल को उत्तरी–पूर्वी भारतीय राज्यों पर अभियान के लिए भेजा। विक्रम चोल के उत्तरी–पूर्वी भारतीय राज्यों के ऊपर सामरिक अभियानों के उद्देश्य को संदर्भ में बी० वेंकैय्या का मानना है इस सामरिक अभियान का उद्देश्य राजनीतिक विजय न होकर धार्मिक उदेश्य से प्रेरित था। यद्यपि इस मत को पूर्णतया सत्य नहीं माना जा सकता क्योकि इन अभियानों से निश्चित तौर पर चोल साम्राज्य को आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ। फिर भी यह बात निश्चित तौर पर कही जा सकती है कि इस अभियान ने उत्तर एवं दक्षिण के मध्य सांस्कृतिक संबंधों को मजबूत किया एवं समन्वयवादी संस्कृति को बढ़ावा दिया। विक्रम चोल ने अपनी विशाल हस्ति सेना के साथ क्रमशः कलिंग, (उड़ीसा) बस्तर (पूर्वी मध्य प्रदेश कर एक सम्भाग) इन्द्ररथ तथा दक्षिणी कोसल आदि राज्यों विजय प्राप्त कर ली। इसके अतिरिक्त अपने सैन्य अभियान को आगे बढ़ते हुए विक्रम चोल ने दण्डमुक्ति के शासक धर्मपाल, दक्षिणीराठ के राजा रणसूर, पूर्वी–बंगाल के नरेश गोविन्दचन्द्र तथा गंगा नदी पार करके पाल राज्य के शासक महीपाल को पराजित किया।

तिरुवालंगाडु ताम्रपत्र अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इन सामरिक विजयों को आगे बढ़ते हुए विक्रम चोल ने चोल–सेना सहित गंगानदी में स्नान किया एवं अपने पिता राजेन्द्र प्रथम के आदेश का पालन करते हुए गंगा के पावन जल को राजधानी लेकर गया, जहां इसे संग्रहीत किया गया और जिससे समस्त चोल साम्राज्य को पवित्र कर दिया। नीलकण्ठ शास्त्री का मत है कि विक्रम चोल द्वारा पराजित बंगाल का तत्कालीन शासक पालवंशीय शासक न होकर कोई स्थानीय शासक था। संभवतः उक्त पालवंशीय शासक महीपाल, महान् पालवंशीय नृपतिगणों का कोई निकटस्थ सम्बन्धी रहा होगा।

राजेन्द्र प्रथम ने विक्रम चोल द्वारा लाये गए गंगाजल को अपनी राजधानी गंगैकोंण्डचोलपुरम् के 'चोलगंग' नामक नवनिर्मित तडाग में एकत्र करवाया था, एवं इस महत्वपूर्ण अवसर पर उसने 'गंगैकोंडचोल' की उपाधि धारण की। उसने इसी नवनिर्मित तडाग के चारों तरफ अपनी राजधानी–गंगकोण्डचोलपुरम् का कलात्मक संवर्धन् कराया।

राजेंद्र चोल ने अपनी विजयों के माध्यम से चोल साम्राज्य को गंगा से लेकर सिंहल द्वीप तक विस्तृत किया, इसके अतिरिक्त बंगाल की खाड़ी से आगे बढ़कर जावा, सुमात्रा, एवं मलय प्रायद्वीप तक उसने चोल वंश के प्रभुत्व की स्थापन की। इसके काल में चोल वंश का वैभव अपने सर्वोच्च शिखर तक पहुंचा। अपनी सैन्य विजयों के अतिरिक्त उसने कई सारे सृजनात्मक कार्य किए जिसके अंतर्गत उसने सिचाई के लिए उसने सोलह मील लंबा एक भव्य तालाब खुदवाया था। उसके वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए एक विशाल विद्यालय की भी स्थापना कारवाई।

बोध प्रश्न

3. राजेंद्र चोल के विजयों एवं उपलब्धियों कि व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

राजाधिराज (1044–1052 ई०),

राजेंद्र चोल के पश्चात् उसका पुत्र राजाधिराज जो 1018 ई० से ही युवराज के रूप में अपना दायित्व संभाल रहा था, चोल सत्ता पर आसीन हुआ। राजाधिराज ने अपने पिता की विस्तारवादी नीति का पालन करते हुए, पाण्ड्य, केरल तथा सिंहल के विदोह को बुरी तरह से दबा दिया। वेंगी के तत्कालीन शासक सोमे''वर के पुत्र विक्रमादित्य को पराजित कर चालुक्यों की राजधानी कल्याणी को आक्रांत किया, एवं इस उपलक्ष्य में उसने 'विजयराजेन्द्र' की उपाधि धारण की। किन्तु यह विजय स्थायी साबित नहीं हो सकी एवं सोमेश्वर के नेतृत्व में चालूक्यों ने पुनः आक्रमण किया एवं कोप्पम के युद्ध में (1052–53 ई०) राजाधिराज लड़ता हुआ मारा गया। यद्यपि अंततः उसके भाई राजेन्द्र द्वितीय ने सोमे''वर को परास्त कर युद्ध–क्षेत्र में ही अपना अभिषेक किया।

राजेन्द्र द्वितीय (1052–1064 ई०) शासन काल में भी चोल–चालुक्य संघर्ष चलता रहा। चालुक्य शासक सोमे''वर ने वेंगी की गद्दी पर शक्तिवर्मन् द्वितीय को बैठाया एवं दूसरी तरफ से अपने पुत्रों विक्रमादित्य तथा जयसिंह को चोल राज्य पर आक्रमण करने को भेजा। यद्यपि सोमे''वर को इस युद्ध मे असफलता मिली एवं वह दोनों ही मोर्चा पर बुरी तरह असफल रहा।

राजेन्द्र द्वितीय के पश्चात् वीर राजेन्द्र (1064–1070 ई0) राजा हुआ। इसके

शासन काल में भी चोल–चालुक्य संघर्ष चलता रहा। इसने अपने शासन कल में दो बार सोमे''वर द्वितीय को पराजित किया एवं अंततः 1068 ई0 में सोमे''वर प्रथम ने तुंगभद्रा में डूबकर आत्महत्या कर ली। सोमे''वर प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी सोमे''वर द्वितीय ने चोल–चालुक्य संघर्ष जारी रखा, इसके शासन काल में वीर राजेन्द्र ने पुनः आक्रमण कर उसे पराजित किया। इन पराजयों के क्रम में सोमे''वर द्वितीय का छोटा भाई विक्रमादित्य चोलनरेश वीर राजेन्द्र से जा मिला, जिससे वीर राजेन्द्र ने अपनी पुत्री का विवाह कर उसे वेंगी के राज्य के दक्षिणी भाग की सत्ता सौंप दी। वीर राजेन्द्र के पुत्र अधिराजेन्द्र ने उसके पश्चात् चोल सत्ता संभाली, किन्तु मात्र एक वर्ष के भीतर उसकी अयोग्यता का लाभ लेकर 1070 में पूर्वी चालुक्य वंशी राजेन्द्र ने उसे द्वारा अपदस्थ कर चोल सत्ता पर अधिकार कर लिया।

12.2.4 कुलोत्तुंग प्रथम (1070–1122 ई0)

कुलोत्तुंग प्रथम में पूर्वी चालुक्यों एवं चोल वंश दोनों का ही समिश्रित रक्त था, उसका पिता राजराज चालुक्यों की पूर्वी शाखा से संबन्धित था वहीं उसकी मां राजेंद्र चोल की पुत्री थी। नरेश राजराज का पुत्र था किन्तु उसमें चोल रक्त का मिश्रण था। कुलोत्तुंग प्रथम का शासनकाल संघर्षों का काल रहा एवं शासन काल के अंतिम वर्षों में उसे होयसल एवं काकतीयों का विद्रोह झेलना पड़ा। इसके काल तक सोमे''वर द्वितीय एवं विक्रमादित्य षष्ठ के परस्पर संघर्ष के कारण कल्याणी का पश्चिमी–चालुक्य राज्य दो भागों में विभक्त हो चुका था। जिसमे वेंगी का शासक विक्रमादित्य षष्ठ कुलोत्तुंग प्रथम का विरोधी था। अतः सोमे''वर द्वितीय ने अपने भाई विक्रमादित्य षष्ठ के विरुद्ध चोल नरेश कुलोत्तुंग प्रथम से सन्धि कर ली। कुलोत्तुंग ने 1075–76 ई० में विक्रमादित्य षष्ठ पर आक्रमण कर उसे पराजित कर गंगावाड़ी क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, इसका उल्लेख कलिंगत्तुपराणि तथा विल्हणविरचित 'विक्रमांकदेवचरित' में भी मिलता है।

वेंगी की कमजोर सत्ता का लाभ उठाकर कलचुरि नरेश यशः कर्णदेव ने अपना साम्राज्य विस्तार किया था जिसका उल्लेख कलचुरि–अभिलेखों से प्राप्त होता है। कुलोत्तुंग प्रथम ने सम्भवतः 1075–76 ई० में कलचुरि शासक यशःकर्णदेव को पराजित कर पुनः वेंगी राज्य को कलचुरियों से मुक्त कर वेंगी को अपने अधीन कर लिया।

सामरिक रूप से दक्षिणी–कलिंग राज्य वेंगी का आधिपत्य बनाये रखना बहुत आवश्यक था। 1064 ई० में दक्षिणी–कलिंग राज्य ने स्वयं को वेंगी से पृथक्

कर अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी थी। संभवतः इसी कारण चोल नरेश कुलोत्तुंग प्रथम ने दक्षिणी कलिंग पर आक्रमण कर उसे पूर्ववत् वेंगी राज्य के अधीन विवश कर दिया।

कुलोत्तुंग प्रथम के सत्ता मे आने के बाद प्रारम्भिक वर्षों में सिंहल (श्रीलंका) शासक विजयबाहु ने विद्रोह कर अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। सिंहली बौद्ध–महाकाव्य 'महावंश' से ज्ञात होता है कि कुलोत्तुंग प्रथम ने उक्त विद्रोह को दबाने के लिए कई प्रयास किए अंततः असफल होने पर उसने सिंहल नरेश से मैत्री–सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अपने मैत्री–सम्बन्ध को सुदृढ़ आधार देने के लिए उसने अपनी पुत्री का विवाह वहाँ के राजकुमार के साथ कर किया। अपने पुत्र विक्रम चोल जो वेंगी राज्य का तत्कालीन शासक था, को 'युवराज' पद पर अभिषिक्त करने के लिए कुलोत्तुंग प्रथम ने चोल राजधानी 'गंगैकोडचोलपुरम्' में बुला लिया। जिसके कारण यहाँ अराजकता फैल गयी जिसका लाभ उठाकर तत्कालीन चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ ने वेंगी पर आक्रमण कर उसके अधिकांश भू–भागों पर अधिकार कर लिया। चालुक्य–आधिपत्य कि पुष्टि अभिलेखों से भी होती है, कुलोत्तुंग प्रथम के शासन के 49वें वर्ष के लेख यहाँ से प्राप्त होते है जबकि इसके पश्चात उसके उत्तराधिकारी पुत्र विक्रम चोल के अभिलेख 1127 ई० तक इस भू–भाग से प्राप्त नहीं होते हैं। अतः इस भूभाग पर इस काल में चालुक्य–आधिपत्य की सम्भावना को इन्कार नहीं किया जा सकता है।

कुलोत्तुंग प्रथम के शासन काल मे अंतिम वर्षों मे होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन् ने चोल राज्य पर आक्रमण कर गंगवाड़ी, नोलम्बवाड़ी, तलकाड प्रदेश एवं धुर दक्षिणी भारत में स्थित रामे''वरम् क्षेत्र तक सामरिक अभियान कर महत्वपूर्ण चोल शासित प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। होयसल विष्णुवर्द्धन ने तलकाड प्रदेश पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् 'तलकाडुकोंड' की उपाधि धारण की। 1117 ई० में काकतीय शासक प्रोल ने भी स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर कल्याणी के चालुक्यों की अधीनता स्वीकार कर ली।

कुलोत्तुंग प्रथम एक कुशल एवं पराक्रमी शासक था, उसने 1120 ई० तक अर्थात् 52 वर्ष की दीर्घ अवधि तक शासन किया। एक कुशल शासक होने के साथ ही साथ उसने भूमि–प्रशासन एवं कर–निर्धारण में कई महत्वपूर्ण प्रयोग भी किए एवं एक लाभकारी प्रणाली लागू की। उसने चिदम्बरम् के मंदिर एवं श्रीरंगम की समाधि का पुनरुद्धार कराया। कुलोत्तुंग प्रथम ने नवीन स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन किया, जिनपर 'कटै कोंडचोलन्' तथा 'मलैनडुकोंडचोलन्' आदि कुलोत्तुंग प्रथम द्वारा धारण की गई उपाधियाँ अंकित की गई।

12.2.5 परवर्ती शासक एवं पतन

कुलोत्तुंग प्रथम की मृत्यु के उपरान्त 1120 ई० में विक्रमचोल राजसिंहासन पर आसीन हुआ। उसने 1126–27 ई० चालुक्य शासक सोमेश्वर तृतीय को पराजित कर वेंगी राज्य पर अधिकार कर लिया। साथ ही उसने होयसलों को पराजित कर गंगवाड़ी राज्य के कोलार क्षेत्र को भी चोल राज्य में मिला लिया।

विक्रमचोल के पश्चात् कुलोत्तुंग द्वितीय(1133–1150ई.) राजसिंहासन पर आसीन हुआ। इसका शासन काल शांतिपूर्ण रहा। वह शैवधर्मानुयायी था, एवं अपनी कट्टरता के कारण उसने नटराज मन्दिर के गोविन्दराज (विष्णु) की प्रतिमा को समुद्र में फिकवा दिया था। इसके काल में 'पेरियपुराणम्' के लेखक शेक्किलार तथा ओत्तक्कुत्तन, कम्बन जैसे महान् रचनाकारों को राजकीय संरक्षण प्राप्त था।

कुलोत्तुंग द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र राजराज द्वितीय (1150–1173 ई०) में चोल शासक बना। इसके शासन काल मे पाण्ड्य राज्य मे उत्तराधिकार को लेकर संघर्ष प्रारम्भ हुआ, संभवतः जिसमे कुलशेखर पाण्ड्य ने चोल नरेश से सैनिक सहायता की मांग की एवं जिसके परिणामस्वरूप इनके मध्य मैत्री–सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसके शासनकाल में होयसलों एवं कोयू ने चोलों से कोलार, कोनू तथा कोयम्बटूर आदि अपहृत कर लिया। इसने 1173 ई० तक राज्य किया।

1173 ई० में राजाधिराज द्वितीय चोल शासक बना, इसके काल में कलचुरि–नरेश सोमेश्वर सोविदय ने पराजित करक चोल–शासित आन्ध्रप्रदेश के अधिकांश भू–भाग को जीत लिया। 1179 ई० में कुलोत्तुंग तृतीय चोल–सिंहासन पर बैठा। इसके काल में भी उसके 1190 तथा 1194 ई० के मध्यकाल के अभिलेखों की सूचनानुसार उसने सर्वप्रथम कोंगूदेश के विद्रोहों को शान्त किया।

कुलोत्तुंग तृतीय के शासनकाल में भी पाण्ड्य राज्य मे उत्तराधिकार को लेकर संघर्ष हुआ, जिसमे विक्रमपाण्ड्य की सामरिक एवं सैनिक सहायता चोल नरेश कुलोत्तुंग तृतीय ने की। विक्रमपाण्ड्य ने चोलसेना की सहायता से राजधानी मदुरा नगर को जीत लिया तथा पाण्ड्य शासक बन गया। कुलोत्तुंग तृतीय ने अपनी इस विजय के उपलक्ष्य में राजधानी मदुरा में एक विजय स्तम्भ निर्मित करवाया। अपनी सामरिक विजयों के क्रम में कुलोत्तुंग तृतीय ने होयसल, बाण, चेर, गंग, काडव, मलैयान आदि राज्यों पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया।

कुलोत्तुंग तृतीय के शासन काल के पश्चात् चोलों का तेजी से पतन हुआ।

इसके पश्चात् राजराज तृतीय (1216–1246 ई०) शासक बना। अनेक सामंतों ने स्वयं को स्वतंत्र कर लिए पाण्ड्य, होयसल एवं काकतीय, तेलुगूचोड, देवगिरि के यादव आदि राजवंशों ने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली। पाण्ड्यशासक सुन्दरपाण्ड्य से युद्ध मे पराजय के परिणामस्वरूप राजराज तृतीय की शक्ति एवं प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा एवं उसे होयसल शासक सोमे"वर के राजदरबार में जाकर शरण लेनी पड़ी। अंततः होयसलों ने चोल साम्राज्य के विशाल भू–भाग पर अधिकार कर चोल नरेश को अपने अधीन शासन करने के लिए धीरे–धीरे विवश कर दिया।

राजराज तृतीय के उपरान्त 1246 ई० में राजेन्द्र तृतीय (1246–1279ई.) चोल–राजसिंहासन पर बैठा। इसने प्रारम्भिक तौर पर पाण्ड्य शासक एवं होयसलों के विरुद्ध सफलता हासिल की, किन्तु अंततः होयसल नरेश ने पाण्ड्य–शासक सुन्दरपाण्ड्य के साथ मिलकर उसपर आक्रमण कर दिया। जिसमे राजराज तृतीय पराजित हुआ एवं पाण्ड्य शासक ने उसे अपने अधीन सामंत शासक के रूप मे शासन करने के लिए बाध्य कर दिया फलतः लगभग 400 वर्षों के लंबे समृद्धशाली शासन के पश्चात् चोल–शासित तमिलनाडु प्रदेश पर शक्तिशाली पाण्ड्य राज्य की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई।

बोध प्रश्न

4. कुलोत्तुंग प्रथम के विजयों एवं उपलब्धियों कि व्याख्या करें। साथ ही चोल वंश के पतन पर संक्षेप मे व्याख्या करें।

.....

.....

.....

.....

12.3 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– उपभाग देखें 12.2 एवं 12.2.1

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– उपभाग देखें 12.2.2

बोध प्रश्न 3.

उत्तर– उपभाग देखें 12.2.3

बोध प्रश्न 4.

उत्तर– उपभाग देखें 12.2.4 एवं 12.2.5

12.4 सारांश

चोल राजवंश, अपने विशाल शासनकाल और बहुमुखी उपलब्धियों के साथ, दक्षिण एशियाई इतिहास की आधारशिला बना हुआ है। चोलों ने न केवल सैन्य शक्ति का प्रयोग किया बल्कि सांस्कृतिक और प्रशासनिक प्रतिभा का एक दुर्लभ संगम भी प्रदर्शित किया। हिंद महासागर में चोल नौसेना के वर्चस्व ने व्यापार विकास और सांस्कृतिक प्रसार को सुविधाजनक बनाया, जिससे क्षेत्रीय गतिशीलता पर अमिट प्रभाव पड़ा। उनके प्रशासनिक नवाचार, जैसे विकेंद्रीकृत स्थानीय शासन प्रणाली, ने एक दूरदर्शी दृष्टिकोण का प्रदर्शन किया जिससे उनके शासन सिद्धांतों का अनुमान लगाया जा सकता है। जब हम चोल राजवंश पर विचार करते हैं, तो हम इसे एक गतिशील सभ्यता के रूप में पहचानते हैं जो नवाचार, कलात्मक अभिव्यक्ति और एक विश्वव्यापी वि"वदृष्टि पर पनपी थी। चोल युग को साहित्य के स्वर्ण युग की विशेषता थी, जिसमें कंबन और जयमकोंडार जैसे साहित्यिक दिग्गजों ने उत्कृष्ट कृतियों का योगदान दिया जो आज भी कायम हैं। इसकी विरासत प्रेरणा के स्रोत के रूप में कार्य करती है, जो हमें चोल इतिहास की समृद्ध परंपरा में गहराई से उतरने और भारतीय उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक विरासत में चोलों के स्थायी योगदान की सराहना करने के लिए बाध्य करती है।

12.5 शब्दावली

- ईलमंडलम्–सिंहल राज्य(श्रीलंका)
- कांडलूर–त्रिवेन्द्रम्
- श्रीविजय–पालेमवंग(वर्तमान इंडोनेशिया में अवस्थिस्त)
- मलाया –आधुनिक मलेशिया एवं उसका सीमावर्ती क्षेत्र
- मलयनाड–आधुनिक कर्नाटक का कुर्ग जनपद

12.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालयः मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
5. शास्त्री, के. ए. नीलकन्ठ, (1975), द चोलास मद्रास यूनिवर्सिटी ऑफ मद्रास प्रेस।
6. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

इकाई–13 चोल कालीन शासन व्यवस्था, कला एवं स्थापत्य

इकाई की रुपरेखा

13.0 प्रस्तावना

13.1. उद्देश्य

13.2 चोल कालीन शासन व्यवस्था की रुपरेखा

13.2.1 केन्द्रीय प्रशासन

13.2.1 प्रांतीय प्रशासन

13.2.3 स्थानीय स्वशासन ऊर, सभा, नगरम्

13.2.4 भूमि एवं राजस्व व्यवस्था

13.2.5 न्याय–व्यवस्था

13.2.6 सैन्य–व्यवस्था

13.3 चोल कालीन कला एवं स्थापत्य

13.3.1 चोल कालीन मूर्ति कला

13.3.2 चोल कालीन मंदिर स्थापत्य कला

13.3.2.1 तंजौर का बृहदी''वर मंदिर

13.3.2.2 गंगकोण्डचोलपुरम् का बृहदी''वर मंदिर

13.4 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.5 सारांश

13.6 शब्दावली

13.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

13.0 प्रस्तावना

9वीं से 13वीं शताब्दी के मध्य भारत के दक्षिण प्रायद्वीप पर चोल राजवंश का एक समृद्ध शासन रहा, जिसके अंतर्गत उनके अनुकरणीय प्रशासन, विशिष्ट कलात्मकता और वास्तुशिल्प के नवीन प्रयोगों ने उपमहाद्वीप पर एक अमिट छाप छोड़ी। अपने प्रशासनिक कौशल के लिए प्रसिद्ध चोल शासकों ने एक विकेन्द्रीकृत प्रशासनिक प्रणाली लागू की, जिसके अंतर्गत एक सशक्त स्थानीय शासन का भी विकास हुआ। इनके कुशल प्रशासन के परिणामस्वरूप एक विशाल क्षेत्र में स्थिरता

और समृद्धि सुनिश्चित हुई। प्रशासन के अतिरिक्त कला के क्षेत्र में भी चोलों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया, विशेषकर मूर्तिकला और कांस्य मूर्तियों के क्षेत्र में। इस अवधि के दौरान बनाई गई कांस्य मूर्तियां उनके जटिल विवरण, जीवंत अभिव्यक्तियों और उल्लेखनीय शिल्प कौशल के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हैं, जिसमे चोल राजवंश की गहरी धार्मिक संबद्धता प्रदर्शित होती है।

वास्तुकला के क्षेत्र मे चोलों ने जो कीर्तिमान स्थापित किए, वे आज भी अपनी भव्यता एवं कलात्मक सौन्दर्य के जीते– जागते उदाहरण हैं। तंजावुर में बृहदी''वर मंदिर चोल वास्तुशिल्प प्रतिभा के प्रमाण के रूप में खड़ा है, जिसमें एक विशाल विमान, जटिल नक्काशीदार खंभे और अलंकृत मूर्तियां हैं। इन वास्तुशिल्प चमत्कारों की सावधानीपूर्वक योजना और निष्पादन ने कला के संरक्षण के लिए चोलों की प्रतिबद्धता और सांस्कृतिक एवं धार्मिक पहचान के स्थायी प्रतीक बनाने की उनकी इच्छा को रेखांकित करता है ।

13.1. उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य चोल कालीन शासन–व्यवस्था, कला एवं स्थापत्य का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1. चोल कालीन शासन–व्यवस्था की महत्वपूर्ण विशेषताओं के संदर्भ में।
2. चोल कालीन शासन–व्यवस्था के विभिन्न अंग यथा केन्द्रीय प्रशासन, प्रांतीय प्रशासन एवं स्थानीय स्वशासन के विषय में।
3. चोल कालीन स्थानीय स्वशासन के विभिन्न अंगों के बारे में।
4. चोल वंश के शासन के अंतर्गत उनकी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक उपलब्धियों के अंतर्गत चोल कालीन कला एवं स्थापत्य के संदर्भ मे।
5. चोल कालीन मंदिर के स्थापत्य के संदर्भ मे।

13.2 चोल कालीन शासन व्यवस्था की रुपरेखा

चोल राजवंश, जो 9वीं से 13वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में फला–फूला। अपनी अनुकरणीय प्रशासनिक प्रणाली के लिए व्यापक रूप से जाना जाता है जिसने क्षेत्र के शासन और सामाजिक संरचना को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चोल प्रशासन की विशेषता इसकी दक्षता, विकेंद्रीकरण और स्थानीय शासन पर जोर देना है।

चोल प्रशासन की प्रमुख विशेषताओं में से एक इसकी विकेन्द्रीकृत संरचना थी, जिसमें स्थानीय अधिकारियों को पर्याप्त शक्तियाँ सौंपी गई थीं। साम्राज्य को कई प्रांतों में विभाजित किया गया था, प्रत्येक का नेतृत्व स्थानीय मामलों की देखरेख के लिए जिम्मेदार एक गवर्नर अथवा राज कुल से संबन्धित व्यक्ति करता था। इस विकेन्द्रीकृत दृष्टिकोण ने त्वरित निर्णय लेने और विशाल चोल क्षेत्र के कुशल प्रबंधन की सुविधा प्रदान की।

चोलों ने एक व्यवस्थित राजस्व और कराधान प्रणाली लागू की, जिससे राजकीय खजाने में संसाधनों का एक स्थिर प्रवाह सुनिश्चित हुआ। भू–राजस्व, व्यापार कर और सीमा शुल्क सावधानीपूर्वक एकत्र किए गए, जिससे साम्राज्य की आर्थिक स्थिरता में योगदान मिला। चोल शासकों ने कृषि उत्पादकता बढ़ाने और व्यापार को सुविधाजनक बनाने के लिए बुनियादी ढाँचे के विकास, सिंचाई प्रणाली और सड़कों के निर्माण को भी प्राथमिकता दी।

13.2.1 केन्द्रीय प्रशासन

चोलों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना के साथ–साथ इसके प्रशासन की भी समुचित व्यवस्था की। केन्द्रीय प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था। उसके अधिकार असीम थे, इसमे सभी विधायी, कार्यकारी, न्यायिक, सैन्य शक्तियों का केन्द्र होता था। राजा की शक्ति और प्रतिष्ठा का पता इस बात से चलता है कि चोल राजाओं और रानियों की मूर्तियाँ मंदिरों में स्थापित कर उनकी पूजा की जाती थी।

केंद्र मे राजा का पद वंशानुगत होता था सामान्यतया ज्येष्ठ अधिकार को वरीयता दी जाती थी किन्तु ऐसे भी उदाहरण है कि छोटे राजकुमार को वरीयता प्रदान की गयी। राजा, युवराज की नियुक्ति अपने शासन काल में ही कर देता था, जिससे कि शासन संबंधी कार्य प्रणाली से उसका परिचय हो सके। युवराज अपने पिता के शासनकाल में पूरी निष्ठा और उत्तरदायित्व के साथ हाथ बंटाता था। संभवतः इसका मुख्य कारण उत्तराधिकार को लेकर होने वाली संभावना को समाप्त करना रहा होगा। कुछ युवराजों को महत्त्वपूर्ण प्रांतों का शासक भी नियुक्त किया जाता था। युवराज राजा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े होते थे और युद्ध एवं शाति काल दोनों में वे बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। जैसे–राजराज प्रथम के शासनकाल में युवराज राजेन्द्र प्रथम ने युद्ध एवं शासन कार्यों में राजा को काफी सहयोग दिया था। इसी तरह, राजाधिराज के चालुक्यों के विरुद्ध कोप्पम् के युद्धभूमि में मृत्यु के पश्चात् युवराज राजेन्द्र द्वितीय ने युद्ध को जारी रखा और अंततः चालुक्य सेनाओं को परास्त किया।

चोल राजा का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक होता था एवं प्रशासन की व्यवस्थित स्थापना राजराज प्रथम के काल से दिखाई देती है। चोल शासक को सलाह देने हेतु उडनकुट्टम् नामक एक संस्था थी, जिन्हें राजा के सबसे नजदीकी अधिकारियों का दल कहा जाता था। इनके अधीन नौकरशाही की व्यवस्था होती थी। सलाहकार के रूप में पुरोहित अथवा राजगुरु का पद होता था। चोल राज्याधिकारियों में राजगुरु का पद अत्यंत महत्वपूर्ण था। यह सामान्यतः राजपुरोहित का कार्य करता था और ये राजा की ओर से लोगों के बीच धार्मिक स्वीकृति दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। ये राजा के सामाजिक–सांस्कृतिक विचार को लोगों के बीच प्रसारित भी करते थे। राजगुरु की एक अन्य भूमिका यह भी थी, कि वे आर्य संस्कृति और तमिल संस्कृति के चोल सामंजस्य को बढ़ाने का कार्य करते थे और यह राज्य के स्थायित्व एवं विस्तार के लिए आवश्यक था।

प्रत्येक विभागाध्यक्ष लगातार राजा के संपर्क में रहते थे और राजा सदैव उनसे परामर्श लेता था। किन्तु, यह राजा के स्वविवेक पर निर्भर करता था कि वह परामर्श स्वीकार करें या नहीं। वृहद् प्रशासनिक तंत्र को बड़े प्रशासनिक अधिकारी (पेरून्दरम्) और छोटे अधिकारी (शिरून्दरम्) के रूप में वर्गीकृत किया गया था। समस्त नौकरशाही 'पेरुन्दरम्' (बड़े अधिकारी) एवं 'शिरुन्दर' (छोटे अधिकारी) में विभाजित थी।, अधिकारियों की नियुक्ति जन्म, जाति, रक्त संबंध और योग्यता आदि के संतुलन पर आधारित होती थी। प्रशासनिक दायित्वों में क्षेत्रीय दौरा भी शामिल था। इन्हें वेतन के रूप में भूमि अनुदान दिया जाता था। सदा राजा के पास रहने वाले अधिकारी को उड्डनकूट्टम कहते थे। राजमहल के सेवक को बेलम कहा जाता था। वडेक्कार या तिरुमेयकप्पार राजा का अंगरक्षक होता था।

बोध प्रश्न

1.चोल वंश केंद्रीय प्रशासन का वर्णन करें ।

.....

.....

.....

.....

13.2.1 प्रांतीय प्रशासन

चोल साम्राज्य मंडलों या प्रांतों में बंटा हुआ था और इनकी संख्या संभवतः छः थी। केन्द्रीय प्रशासन के समान ही प्रांतों में प्रशासनिक व्यवस्था थी।

कभी–कभी राज–परिवार के सदस्य प्रांतीय शासक नियुक्त किये जाते थे। इनके पास अपनी सेना एवं न्यायालय होता था। मंडलम् का विभाजन वलनाडुओं अथवा कोट्टायम् में होती थी, जिसकी तुलना आज की कमिश्नरी से की जा सकती है। प्रत्येक कोट्टायम् मे कई नाडु होते थे जिसे वर्तमान जिले के रूप में मान सकते है, इनकी सभा को नाट्टर कहते थे। नाडु के अधिकारियों की नियुक्ति मंडलम् से होती थी। मौर्यों में इस स्तर के अधिकारी की नियुक्ति केन्द्र करता था और मौर्यों के बाद यह प्रवृत्ति लगभग समाप्त हो गयी थी जो विकेन्द्रीकरण की ओर संकेत करता है। किन्तु चोलों ने वलनाडु नामक एक नये पद का सृजन किया, जिसकी नियुक्ति केन्द्र करता था जिससे वलयनाडु पर केन्द्रीय नियंत्रण का प्रभाव रखा जाता था। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण के समानान्तर केन्द्रीकरण की धारा भी मजबूत करने का परोक्ष प्रयास किया ।

13.2.3 स्थानीय स्वशासन ऊर, सभा, नगरम्

ऊर, सभा और नगरम् स्वशासी संस्थाओं के रूप में प्रसिद्ध थे। राजकर्मचारी इन पर ऊपरी निगरानी करते थे, लेकिन इन स्वशासी संस्थाओं को अपनी आंतरिक व्यवस्था बनाने में पूरी स्वतंत्रता थी। इन्हें संगठन के नियमों को बनाने और बदलने का अधिकार था। इस अधिकार को परान्तक प्रथम के काल से ही स्वीकार किया गया था। उसके उत्तरमेंरूर अभिलेख ग्रामशासन के बारे में बहुत कुछ बताता है। इन स्वशासी संस्थाओं ने सामान्य न्याय, स्थानीय प्रशासनिक व्यवस्था, मन्दिर, मार्ग, जलस्थान और अन्य सार्वजनिक सेवाओं का प्रबन्ध किया। इन स्वशासी संस्थाओं के कार्य और रूप भी स्थान के कारण अलग–अलग थे। स्थानीय महत्व के समस्त विषय उनके कार्यक्षेत्र में आते थे। इन संस्थाओं ने धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मुद्दों को भी देखा और नियंत्रित किया। इन संस्थाओं को कभी–कभी कोई एक विषय अथवा एक विषय के अंतर्गत कई उपसमितियों के माध्यम से काम किया जाता था। इन समितियों को वारियम् कहा जाता था, ये परस्पर सामूहिक दायित्व के आधार पर कार्य करती थी। यद्यपि राजकर्मचारी आम तौर पर इन संस्थानों की कार्यप्रणाली में हस्तक्षेप नहीं करते थे, उन्हें इन संस्थानों के वार्षिक आय–व्यय की जाँच करने का अधिकार था। किसानों की आवश्यकताओं को पूरा करने में ग्राम पंचायतें, ग्राम–प्रशासन और प्रतिरक्षा के अलावा अपनी विभिन्न समितियों की सहायता से बहुत कुछ करती थीं। ग्राम पंचायतें मुख्य रूप से सिंचाई के साधनों, उपवनों, तड़ागों और अन्य सुविधाओं का भी निर्माण करती थी। पंचायतों से चुने गए सदस्यों से ग्राम की स्थायीसमिति, उपवनसमिति, कृषि–समिति, न्याय–समिति, तड़ाग–समिति, प्रतिरक्षा–समिति और अन्य प्रशासकीय छोटी–

छोटी समितियां बनाई जाती थीं। चोल युगीन ग्राम–प्रशासन के सदस्यों ने कभी–कभी अपने स्थानीय सामन्तों के खिलाफ सशस्त्र लड़ाई में भी भाग लिया। चोल अभिलेखों में मोटे तौर पर स्वशाक्त संस्थाओं के रूप में तीन प्रकार की ग्राम सभाओं का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है ऊर, सभा एवं नगरम ।

'ऊर', एक सामान्य प्रकार की गाँव की सभा थी, जिसमें गाँव, पुर या नगर दोनों शामिल थे। 'ऊर' शब्द का अर्थ है 'पुर'। 'आलुंगणम्' इसकी कार्यकारी समिति का नाम था। ऊर सभा का सबसे बड़ा काम था अपने प्रतिनिधियों से दस्तावेजों के मसौदे बनाना और फिर उसे लिपिबद्ध करना; प्रत्येक सदस्य को पारिश्रमिक के रूप में नकद राशि मिली। एक बड़े गाँव में व्यवस्था के लिए कभी–कभी दो 'ऊर' भी होते थे। चोलअभिलेखों के अनुसार 1227 ई० में 'शात्तमंगलम' ग्राम में दो 'ऊर' थे। 1245 ई. में दो बड़े ग्रामों 'अमणकुंडि' और 'कुमारमंगलम' में दो 'ऊर' होने की जानकारी भी महत्वपूर्ण है। ऊर का मुख्य उद्देश्य सार्वजनिक फायदे के लिए तालीव या वाटिका–हेतु ग्रामीण भूमि का अधिग्रहण करना, उसे कर से मुक्त करना या उस भूमि का लगान स्वयं वसूल करना था।

'सभा' मुख्यतया 'अग्रहारों' या ब्राह्मण–वस्तियों की संस्था थी। चोल–साक्ष्यों में, इसे 'पुरुगुरि' कहा जाता है। इसके सदस्यों का नाम पेरुमक्कल था। सभा या महासभा नामक संस्था शायद काँची के आसपास बहुत सक्रिय थी। क्योंकि तोडमंडलम् से प्राप्त अधिकांश अभिलेखों में सभा की गतिविधियों का विशिष्ट विवरण मिलता है सभा जटिल होते हुए भी ग्राम शासन में महत्वपूर्ण थी। इनके अंतर्गत गठित समितियों को वे वारियम् कहते थे। सभा की कार्यसमिति के सदस्यों को 'वारियप्पेरुमक्कल' कहा जाता था। सदस्यों को चुनने के लिए कुछ योग्यताएं आवश्यक थीं। उदाहरण के लिए, सदस्य को अपनी जमीन पर घर बनाना होगा, 35 से 70 वर्ष की आयु होगी, वैदिक मंत्रों का ज्ञान होगा और कम से कम एक वेलि भूमि होनी चाहिए थी। सदस्यों का औसत कार्यकाल तीन वर्ष था। मनोनीत सदस्यों में से तीस सदस्य वार्डों के लिए चुने जाते थे। इनका चुनाव बहुत रोचक था। एक व्यक्ति का नाम कई ताड़पत्रों पर लिखकर एक बड़े पात्र में डाल दिया जाता था। बाद में, उसे अच्छी तरह मिलाकर एक छोटे बालक से पात्रों में से केवल उतने ही ताड़पत्रांकित नाम निकाले जाते थे, जितने सदस्यों को चुनना था। उपर्युक्त विधि से चुने गए या मनोनीत 30 सदस्यों में से 12 वृद्ध एवं अनुभवी सदस्यों को वार्षिक समिति में चुना गया, जिसे 'सम्वत्सरवारियम्' कहा जाता था। इसी तरह, 12 सदस्य उद्यान समिति (तोट्टवारियम्) के लिए और 6 सदस्य तड़ाग समिति (येरिवारियम्) के लिए चुने गए। ग्राम प्रशासन की आवश्यकतानुसार सदस्यों की संख्या कम या अधिक की

जा सकती थी, और उनकी सेवा के लिए कोई पारिश्रमिक नहीं था।

'नगरम्' चोल–अभिलेखों में अक्सर 'नगरम' का उल्लेख व्यापारिक केन्द्रों के प्रबंधन कार्यों के लिए किया गया है। 'नगरम्' व्यापारी–समुदाय की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रशासकीय बैठक थी। व्यवस्था के अनुसार, 'नगरम्' को कई भागों में विभाजित किया गया था। मामल्लपुरम् से प्राप्त एक चोल–अभिलेख में कहा गया है कि 'नगरम्' चार भागों से बना था, प्रत्येक में सौ मणै या व्यापारिक भवन–स्थान थे। नगरम् की प्रशासन–व्यवस्था में मुख्य रूप से व्यापारी होते थे। 'नगरम्' ही विभिन्न व्यापारिक वर्गों, प्रतिष्ठानों तथा उद्योगों पर कर की दरों का निर्धारण और वसूल करना सम्मिलित था। तक्कोलम् (उत्तरी अर्काट) से प्राप्त एक अभिलेख में :'नगरम्' के प्रशासन में दो श्रेणियां बताई गई हैं। नगरत्तर और व्यापारिनगरोत्तम्। आवश्यक लेखों और कागजात की देखरेख करने के लिए नियुक्त लिपिक (नगरकरणतार) और लेखाधिकारी को 'नगरक्कण्णवक्कु' कहा जाता है। राज राजेश्वर मन्दिर से प्राप्त चोल अभिलेख में लिखा है कि फल, केसर, गन्ना, मसाले, पान, सुपाड़ी तथा खाद्यान्नों का विक्रीकर 'नगरम' द्वारा वसूला जाता था एवं उसके कोष में रखा जाता था। इसके अतिरिक्त चोलकालीन नगरों में हथकरघों, चक्कियों (चेक्किर), नामक–निर्माण उद्योगों (उप्पायम), व्यापारिक–प्रतिष्ठानों (अंगाडिपट्टम्), वाटों (इडेवरि), स्वर्णकारों (तट्टोपाट्टम्) आदि से भी कर वसूलने का दायित्व इनका था। नगरविकास यातायात व्यवस्था, हाटबाजार व्यवस्था और नगरों के व्यापारिक और औद्योगिक विकास के लिए 'नगरम्' सभा आवश्यकतानुसार धन का उपयोग करती थी। नगरों में विक्रय हेतु लाई गई वस्तुओं पर सही कर–निर्धारण और कर–संग्रह का जिम्मा सिर्फ 'नगरम' का था।

बोध प्रश्न

2 .चोल वंश के प्रांतीय प्रशासन का संक्षिप्त वर्णन करें एवं चोल वंश के अंतर्गत विकसित स्थानीय स्वशासन के विभिन्न इकाइयों की व्याख्या करें ।

.....

.....

.....

.....

13.2.4 भूमि एवं राजस्व व्यवस्था

राज्य की आय का प्रमुख साधन भू–राजस्व था, जिसे ग्राम सभाएँ वसूल

करती थीं। राजराज प्रथम और कुलोत्तुंग प्रथम के काल में भू–राजस्व को निश्चित करने के लिए संपूर्ण चोल साम्राज्य की भूमि की पैमाईश की गई थी। राजराज प्रथम के काल में भू–पैमाइश की गई तथा भूमि को दो वर्गों (क) राजस्व भूमि (ख) अराजस्व भूमि में बाँटा गया। भूमि की उत्पादकता के आधार पर कर क्षेत्र व करमुक्त क्षेत्र का निर्धारण होता था। भूमि की उर्वरता व फसल के बाजारीय मूल्य पर कर आरोपित किया जाता था। भूराजस्व का निर्धारण सामान्यतः खेत की उर्वरता, सिंचाई की सुविधा एवं वार्षिक फसल चक्र को ध्यान में रखकर किया जाता था। चोल अभिलेखों में यद्यपि भूराजस्व की दरों का उल्लेख नहीं है, पर संभवतः यह उपज का एक–तिहाई हिस्सा होता था। भूराजस्व बढ़ाने के उद्देश्य से चोल शासकों ने कृषि एवं सिंचाई के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया। कावेरी तथा अन्य नदियों का उपयोग इस प्रयोजन के लिए किया जाता था। सिंचाई के लिए बहुत से तालाब बनवाए गए। इसके अलावा चुंगी कर, बिक्री कर, उत्पाद कर आदि के अतिरिक्त, पेशों पर कर एवं लूट तथा अर्थदण्ड से घन की प्राप्ति आदि भी अन्य राजस्व स्रोत थे। इसके अंतर्गत किडाक्काशू–पशुधन पर कर, अजीवक्काशू–अजीवकों से कर, पडिकावलकुली–चौकीदारी कर, पेवरी–तेलियों से कर, कुडिमई–किरायेदारी, तट्टोपाटम्–सुनारों से कर, कडेइरे–व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर कर, कडमई– भूमि कर आदि प्रमुख थे ।

करों की वसूली और केन्द्रीय कोष में जमा करने का कार्य अधिकांशतः स्थानीय प्रशासन के द्वारा ही संपन्न किया जाता था। चोल काल में करों की वसूली बड़ी कठोर थी। लंबे समय तक कर अदा न कर पाने से लोग भय के कारण गाँव छोड़कर भाग जाते थे। कर–वंचकों को तरह–तरह से उत्पीड़ित करके कर वसूला जाता था। ध्यातव्य है कि प्रशासन के सिविल एवं मिलेट्री का कोई स्पष्ट विभाजन नहीं हो पाया था। चोल साम्राज्य 8 प्रांतों में विभक्त था जो वलयनाडु एवं नाडु में विभाजित थे। नाडु को कोर्रम् या कोट्टम् में विभाजित किया जाता था एवं उसके बाद गाँव था। चोलों के पहले वलनाडु की कोई व्यवस्था नहीं थी।

13.2.5 न्याय–व्यवस्था

राजा न्याय–व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी होता था। कतिपय चोल अभिलेखों में धर्मासन अर्थात् अंतिम न्यायप्राप्ति हेतु राजदरबार का उल्लेख मिलता है। मुकदमों पर प्रारंभिक निर्णय देने का अधिकार ग्राम पंचायतों को प्राप्त था। छोटे–छोटे मुकदमों का निर्णय स्थानीय निगमों द्वारा किया जाता था। चोल अभिलेखों में न्याय समितियों को 'न्यायातर' कहा गया है। न्याय कार्य के लिए

कोई लिखित संहिता बद्ध–व्यवस्था नहीं थी, किन्तु परंपरा एवं धार्मिक सामाजिक–सिद्धान्तों के आधार पर न्यायिक कार्य किया जाता था। धर्मासन का निर्णय धर्मसनभट्ट (स्मृति–शास्त्र ज्ञान के विद्वान् ब्राह्मण) की सहायता से लिया जाता था। साक्षी में वर्ण–भेद विद्यमान था। दीवानी कानून में समझौता प्रपत्र को साक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः चोल साम्राज्य में आर्य एवं तमिल दो भिन्न संस्कृतियों के लोग रहते थे। इनमें इलांगाई –वलंगाई भी शामिल थे। इन सभी की अपनी संस्कृति थी और चोल राजाओं ने इन सबों की संस्कृति का सम्मान किया और उसी के अनुरूप न्यायिक व्यवस्था बनाने का प्रयास किया। इस प्रकार चोल न्याय व्यवस्था में प्रगतिशीलता के तत्व दिखते हैं।

सामान्यतः चोलों के न्याय प्रशासन में तीन तरह के न्यायालयों का उल्लेख प्राप्त होता है क) राजकीय न्याय व्यवस्था, ख) जातीय न्यायालय, ग) ग्रामीण न्यायालय। परंतु न्याय प्रशासन के पूरी संरचना की जानकारी उपलब्ध नहीं है। किसी लिखित कानून व्यवस्था की जानकारी नहीं प्राप्त होती है, परंपरा का अवलंब ही मुख्यतः लिया जाता था और गवाहों के माध्यम से न्याय प्रक्रिया को सम्पन्न किया जाता था। सिविल केस में आर्थिक दंड का प्रावधान, जबकि आपराधिक प्रकरणों में शारीरिक दंड का प्रावधान था। गंभीर अपराध हेतु देश निकाला, कभी–कभी मृत्युदंड भी दिया जाता था। समान्यतया अंग भंग कर दिया जाता था। कुल मिलाकर देखा जाए तो सबसे प्रचलित दंड अर्थ दंड एवं कम प्रचलित मृत्युदंड था।

13.2.6 सैन्य–व्यवस्था

चोल नरेशों ने साम्राज्य की सुरक्षा एवं विस्तार की दृष्टि से विशाल सेना को गठित किया। सेना प्रमुख को 'महादण्डनायक' कहा जाता था। चोल सेना में हस्ति–सेना, अ''वारोही और पैदल सेना शामिल थी। अ''व सेना में घोड़ों का अरब एवं खाड़ी देशों से आयात किया जाता था। महान् चाल नरेशों अर्थात् राजराज प्रथम एवं राजेन्द्र चोल प्रथम के शासनकाल में नौसेना की शक्ति में भी पर्याप्त विस्तार हुआ और पूरी बंगाल की खाड़ी में उनकी तूती बोलती थी। राजा सैन्य संगठन का प्रधान होता था तथा युद्धकाल में प्रायः वही सेना का नेतृत्व करता था। राजा के अतिरिक्त युद्ध के समय युवराज एवं सेनाध्यक्ष भी आवश्यकतानुसार सैन्य दल का नेतृत्व करते थे। सैन्य प्रशासन पदाति, हस्ति एवं अ''वारोही में विभक्त था। राजेन्द्र प्रथम के काल में पूर्वी दुनिया के सबसे बड़ी नौसेना को चोल सेना ने पराजित किया, इससे पता चलता है कि चोलों

की नौसैनिक शक्ति काफी उन्नत रही होगी। संभवतः 1,50000 की सेना इनके पास थी, जिसे अनुशासन हेतु रेजिमेंट में बाँटा गया था। उसके निरंतर प्रशिक्षण युद्धाभ्यास की व्यवस्था थी। थल सेना के कई भाग थे, जिसके अंतर्गत, बडपेर्रकैककोलस–राजा की सुरक्षा में तैनात पदाति सेना, कुंजिर–मल्लर–गज सेना, विल्लिगड़–धनुर्धारी सेना, वैलैक्कार–राजा के व्यक्तिगत अंगरक्षक, कुदिरेच्चेगर–अ''वारोही दल आदि प्रमुख थे ।

बोध प्रश्न

3 .चोल वंश के भूमि एवं राजस्व व्यवस्था का वर्णन करें ।

.....

.....

.....

.....

13.3 चोल कालीन कला एवं स्थापत्य

चोल कला एक समृद्ध और विशिष्ट सांस्कृतिक विरासत का प्रतिनिधित्व करती है जो 9वीं से 13वीं शताब्दी के मध्य चोल राजवंश के प्रश्रय में दक्षिणी भारत में विकसित हुई। इस अवधि को व्यापक रूप से दक्षिण भारतीय कला और वास्तुकला के इतिहास में एक स्वर्ण युग के रूप में मान्यता प्राप्त है, जो मूर्तिकला, मंदिर निर्माण और कांस्य मूर्ति निर्माण में उल्लेखनीय उपलब्धियों के कारण है।

चोल कला अपनी उत्कृष्ट मंदिर मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है, जो इस युग के दौरान बने कई मंदिरों की दीवारों को सुशोभित करती हैं। चोल शासक कला के संरक्षक थे और उन्होंने एक अनूठी शैली के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसमें द्रविड़ और स्वदेशी प्रभावों का मिश्रण था। मूर्तियां अक्सर देवताओं, पौराणिक दृश्यों और जटिल विवरणों को चित्रित करती हैं जो चोल कारीगरों की शिल्प और कलात्मक कौशल को प्रदर्शित करती हैं।

चोल वास्तुकला भी उतनी ही प्रभावशाली है, जिसमें भव्य मंदिरों का निर्माण हुआ है जो राजवंश के सांस्कृतिक और धार्मिक योगदान के स्थायी प्रतीक के रूप में खड़े हैं। मंदिर न केवल पूजा स्थल थे बल्कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के केंद्र के रूप में भी कार्य करते थे। राजा राजराजा चोल प्रथम द्वारा निर्मित तंजावुर में बृहदेश्वर मंदिर, चोल वास्तुशिल्प उत्कृष्टता का एक प्रमुख उदाहरण है, जिसमें एक विशाल विमान और जटिल नक्काशी

है।

चोल काल के दौरान कांस्य ढलाई एक उल्लेखनीय कलात्मक अभिव्यक्ति थी। कुशल धातुकर्मियों ने देवी–देवताओं और विभिन्न पौराणिक घटनाओं की उत्कृष्ट कांस्य मूर्तियां बनाईं। इन कांस्य ढ़लाईयों ने उच्च स्तर की तकनीकि निपुणता और कलात्मक संवेदनशीलता का प्रदर्शन किया, जिससे वे अत्यधिक बेशकीमती कलाकृतियाँ बन गईं।

13.3.1 चोल कालीन मूर्ति कला

दक्षिणी भारत में चोल राजवंश के शासनकाल के दौरान मूर्तिकला का व्यापक विकास हुआ। इस काल मे मूर्ति निर्माण के माध्यम के रूप मे प्रस्तर एवं काँसे का प्रयोग किया गया एवं दोनों ही माध्यमों पर चोल मूर्तिकला अपने चरम पर पहुंची एवं आज भी यह उस समय की कलात्मक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवंतता के प्रमाण के रूप में खड़ी है।

चोल प्रस्तर मूर्तियाँ मुख्य रूप से चोल शासकों द्वारा बनवाए गए भव्य मंदिरों का अभिन्न हिस्सा है। चोल काल में मंदिर केवल पूजा स्थल ही नहीं थे, बल्कि इन्हें सम्पूर्ण ब्रह्मांड की अभिव्यक्ति माना जाता था, जिसके अंतर्गत हर एक छोटा से छोटा स्थान एक प्रतीकात्मक या सौंदर्य संबंधी उद्देश्य की पूर्ति करता था। मंदिर की दीवारों पर देवी–देवताओं और पौराणिक आख्यानों को दर्शाती मूर्तियां उत्कीर्ण की गयी है। जिसका मुख्य उद्देश्य संभवतः उपासकों तक आध्यात्मिक और पौराणिक संदेश पहुंचाना रहा होगा।

चोल प्रस्तर मूर्तियाँ अपनी वर्णनात्मक गुणवत्ता के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं। कलाकारों ने कुशलतापूर्वक रामायण और महाभारत जैसे हिंदू महाकाव्यों, पुराणों और अन्य धार्मिक ग्रंथों के दृश्यों को बड़ी ही बारीकी से चित्रित किया है। सबसे खास बात यह है कि जटिल नक्काशी होने के बाद भी इसमें घटनाओं को व्यक्त करने के साथ ही इनमें शामिल पात्रों की भावनाओं और अभिव्यक्तियों को भी दर्शाया गया है। इस कथात्मक दृष्टिकोण ने मूर्तियों में एक गतिशील और आकर्षक आयाम जोड़ा है।

चोल मूर्तिकारों ने बारीकियों पर बहुत ध्यान दिया और जटिल अलंकरण, बारीक तराशी गई विशेषताओं और विस्तृत गहनों के साथ इन मूर्तियां का निर्माण किया है। देवताओं और पात्रों के चेहरे के भावों को बड़ी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया, जिसमें शांति और करुणा से लेकर क्रोध और दृढ़ संकल्प तक की भावनाओं की एक श्रृंखला दिखाई देती है। पत्थर की मूर्तियों में जान

फूंकने की कलाकारों की क्षमता एवं कौ''ाल चोल कला की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है।

चोल कालीन प्रस्तर मूर्तियाँ एक समृद्ध प्रतीकात्मक परंपरा का पालन करती थीं। प्रत्येक देवता को उनकी शास्त्रगत विशिष्ट विशेषताओं, मुद्राओं और प्रतीकों के साथ चित्रित किया गया है, जिनके अत्यंत गहरे प्रतीकात्मक अर्थ है। उदाहरण के लिए, विष्णु की चार भुजाएं उनकी ब्रह्मांडीय उपस्थिति का प्रतीक हैं, जबकि देवी–देवताओं के कई हाथों में अक्सर विभिन्न शस्त्र या प्रतीकात्मक वस्तुएं होती हैं जो उनकी विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन विवरणों ने मूर्तियों को एक गहरा धार्मिक और दार्शनिक संदर्भ प्रदान किया।

चोल प्रस्तर कला में शिव के विभिन्न रूपों के चित्रण पर विशेष जोर दिया है। भगवान शिव का लौकिक नृत्य, जिन्हें नटराज के नाम से जाना जाता है, चोल कला में एक प्रतिष्ठित एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूपांकन था। नटराज की मूर्तियां ब्रह्मांडीय व्यवस्था को समाहित करते हुए सृजन, संरक्षण और विनाश के निरंतर चक्र का प्रतीक हैं। चोल कलाकारों ने शिव के चित्रण के माध्यम से दिव्यता की तरलता और ऊर्जा का संचार करते हुए, देवत्व के गतिशील पहलुओं की खोज की।

चोल प्रस्तर मूर्तियों की सबसे खास बात यह है कि ये मूर्तियां एकल आकृतियों तक सीमित नहीं थीं; इन्हें अक्सर मंदिरों के समग्र वास्तुशिल्प के अभिन्न भाग के तौर पर निर्मित किया जाता था। मूर्तियँ स्तंभों, दीवारों और ताखों को सुशोभित करती हैं, जो मंदिर परिसरों की सौंदर्यता को बढ़ाती हैं। चोल मंदिरों में वास्तुकला के साथ मूर्तिकला के एकीकरण ने एक सामंजस्यपूर्ण और दृ श्यात्मक वातावरण बनाया, जिससे भक्तों का धार्मिक और सांस्कृतिक अनुभव समृद्ध हुआ।

अतः यह मानने में कोई भी संदेह नहीं है कि चोल प्रस्तर कला मध्ययुगीन दक्षिण भारत की कलात्मक और धार्मिक अभिव्यक्ति के शिखर का प्रतिनिधित्व करती है। कथात्मकता की अभिव्यक्ति, अभिव्यंजक विवरण, जटिल प्रतीकात्मकता और गतिशील देवताओं के चित्रण के मिश्रण के माध्यम से चोल कला ने जो कीर्तिमान स्थापित किए वह आज भी अनुकरणीय है।

चोल काल में निर्मित की गयी कांस्य मूर्तियाँ उस काल के धातुकर्म कौशल का एक उल्लेखनीय प्रमाण है। इस काल में निर्मित मूर्तियाँ भारतीय मूर्ति कला के इतिहास में कुछ सबसे प्रतिष्ठित मूर्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। इनमें जहां एक और उस काल की तकनीकी प्रगति दिखाई देती है वहीं उसके साथ ही

साथ उस समय के कलाकारों का सौन्दर्य बोध का उच्चतम स्टार भी प्रमाणित होता है ।

चोल कांस्य प्रतिमाओं की महत्वपूर्ण विशेषता उनकी तकनीकी प्रगति थी। कुशल कारीगरों द्वारा इनके निर्माण में लॉस्ट–वैक्स तकनीक का उपयोग किया गया, यह एक परिष्कृत विधि जिसमें मोम का उपयोग करके वांछित मूर्ति का एक साँचा बनाया जाता है। उसके पश्चात मोम के साँचे को फिर मिट्टी की परतों से ढक दिया जाता है साथ ही मोम तक पहुँचने के लिए एक सुराख़ किया जाता है जिसमे से पिघली हुई धातु अथवा कांस्य मिश्र धातु, डाली जाती थी।

चोल कालीन कांस्य मूर्तियों का मुख्य विषय धार्मिक और पौराणिक विषय होते थे। हिंदू देवी–देवताओं की मूर्तियों को कांस्य में ढाला जाता था, जिनका प्रयोग मंदिरों में पूजा के लिए किया जाता था। चोल शासक, विशेष रूप से राजराज चोल और राजेंद्र चोल, ने इन कलात्मक प्रयासों को विशेष संरक्षण दिया, उन्होंने अपने भव्य मंदिर परिसरों के सौंदर्य और आध्यात्मिकता को बढ़ाने के लिए कांस्य की मूर्तियों का निर्माण कराया।

चोल कालीन कांस्य मूर्तियों मे सबसे प्रतिष्ठित और व्यापक रूप से बनायी जाने वाली कांस्य मूर्तियों में से एक नटराज थी, जो भगवान शिव का ब्रह्मांडीय नर्तक रूप है। चोल काल की नटराज मूर्तियाँ गतिशीलता और लयात्मकता के चित्रण में आज भी अनुकरणीय हैं। चोल कांस्य मूर्तियां केवल देवताओं का प्रतिनिधित्व नहीं थीं, बल्कि अभिव्यक्ति और भावना की गहरी भावना का प्रतीक थीं। विशिष्ट मनोदशाओं और भावनाओं को व्यक्त करने के लिए चेहरे की विशेषताओं, हाथों के इशारों (मुद्राओं) और शारीरिक मुद्राओं को सावधानीपूर्वक तैयार किया गया था। शिव को कई भुजाओं और जटिल विवरणों के साथ चित्रित किया गया है, जो सृजन, संरक्षण और विनाश के निरंतर चक्र का प्रतीक है। नटराज की मूर्तियां चोल कलाकारों के कौशल एवं उनके द्वारा निर्मित इन मूतियों में गति की तरलता और परमात्मा के लौकिक महत्व को एकाकार करने की उनकी क्षमता को प्रदर्शित करती हैं। जिसके अनुपम उदाहरण के रूप में लक्ष्मी का आशीर्वाद देते हुए अंकन हो, दुर्गा का उग्र रूप हो, या शिव का लौकिक नृत्य हो, प्रत्येक मूर्तिकला भावनात्मका के साथ परमात्मा के सार को समाहित करती है।

चोल कांस्य मूर्तियां अपने जटिल विवरण और अलंकरण के लिए जानी जाती है। कलाकारों ने गहनों, परिधानों और केश सज्जा पर सावधानीपूर्वक ध्यान दिया है, जिससे मूर्तियों में ऐ"वर्य और दिव्य वैभव की भावना का संचार हुआ

है। विस्तृत गहनों और बड़े ही बारीक रूप से तैयार किए गए सूक्ष्म से सूक्ष्म अंकन से मूर्तियों का समग्र सौंदर्य बढ़ जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वे कला के उत्कृष्ट प्रतीक बन गए।

कलात्मक और सौंदर्यपूर्ण महत्व के अलावा, चोल कांस्य मूर्तियों का अत्यधिक धार्मिक महत्व था। मंदिरों के आंतरिक गर्भगृहों में स्थापित, ये कांस्य मूर्तियाँ दैनिक पूजा के लिए प्रयोग में लायी जाती थीं। ये मूर्तियां भक्तों और परमात्मा के बीच आध्यात्मिक संवाद के लिए माध्यम का काम करती थीं।

बोध प्रश्न

4 .चोल कालीन प्रस्तर एवं कांस्य मूर्ति कला की विशेषताओं का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

13.3.2 चोल कालीन मंदिर स्थापत्य कला

दक्षिणी भारत में चोल राजवंश के शासन (9वीं से 13वीं शताब्दी) के दौरान चोल मंदिर वास्तुकला विकास हुआ, जो अपनी भव्यता, जटिल विवरण और आध्यात्मिक प्रतीकवाद के लिए प्रसिद्ध है। चोल मंदिर वास्तुकला द्रविड़ वास्तुकला परंपरा की निरंतरता को दर्शाती है। दक्षिण भारत के बाद के राजवंशों ने चोल वास्तुकला से प्रेरणा ली और इस विशिष्ट शैली की स्थायी विरासत में योगदान दिया। इन मंदिरों का निर्माण ग्रेनाइट के कठोर चट्टानों से किया गया है, ये मंदिर बहुत ही विशाल प्रांगण में बनाए जाते थे, जैसे तंजौर का बृहदीश्वर मंदिर 500 फीट लंबा एवं 250 फीट चौड़ा है। मंदिरों के तल विन्यास को चार भागों मे विभाजित किया जा सकता है 1. मुख्य विमान, 2. मुख मंडप 3. नंदी मंडप 4. महामंडप् या विशालसभा। चोल मंदिरों में गर्भगृह के ऊपर जटिल नक्काशीदार पिरामिड के आकार की संरचनाएं होती हैं जिन्हे विमान कहा जाता है। तंजावुर में बृहदीश्वर मंदिर सबसे ऊंचे विमान है, यह 180 फीट लंबा एवं 100 फीट चौड़ा है, जो चोलों की वास्तुकला कौशल को दर्शाता है। मंदिरों में सामूहिक गतिविधियों और समारोहों के लिए स्तंभों वाले मंडप होते थे, जिन्हे नंदी मंडप एवं महामंडप आदि नामों से जाना जाता था। इन मंडपों में विस्तृत नक्काशी दिखाई जाती थी, जिसमे अक्सर हिंदू महाकाव्यों, पौराणिक कथाओं और दिव्य प्राणियों के दृश्यों को दर्शाया जाता था। ये मूर्तियां

उत्कृष्ट शिल्प कौशल का प्रदर्शन करती हैं, जटिल विवरण के साथ दिव्य गुणों को चित्रित करती हैं।

मंदिरों मे प्रवेश के लिए पूर्व की ओर गोपुरम् बनाया जाता था, जबकि अन्य दिशाओं में छोटे द्वार होते थे। इन गोपुरम् को विस्तृत मूर्तियों और जीवंत रंगों से सजाया जाता था जिससे ये एक भव्य पवित्र स्थान के प्रतीकात्मक प्रवेश द्वार के रूप में स्पष्ट तौर पर दिखाई दें। मंदिर के विभिन्न हिस्सों में बनाए गए दृ श्यों को ऐसे बनाया जाता था जिससे कि इनके बीच एक आंतरिक एवं आध्यात्मिक संबंध सुनिश्चित दिखाई दे। एक सामंजस्यपूर्ण संरचना बनाने के लिए मुख्य देवता के गर्भगृह, विमान और अन्य महत्वपूर्ण भागों को बड़े ही सावधानी से संरेखित किया गया है। पत्थर की वास्तुकला के अलावा, चोल मंदिरों में कांस्य अलंकरण का भी बहुत महत्व था इसके अंतर्गत जटिल रूप से तैयार किए गए दरवाजे, रेलिंग और मूर्तियाँ शामिल हैं। ये कांस्य तत्व कलात्मक उत्कृष्टता के प्रति राजवंश की प्रतिबद्धता को दर्शाते हैं। चोल मंदिरों की विस्तृत संरचना में जल के लिए विशाल तालाब और उद्यान होते थे, जो समग्र वातावरण को पवित्र बनाने में योगदान करते थे संभवतः इन तालाबों को व्यावहारिक और प्रतीकात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाया गया होगा, जैसे अनुष्ठानों के लिए पानी उपलब्ध करना साथ ही ये आध्यात्मिक शुद्धता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

चोल मंदिर वास्तुकला प्रतीकवाद और प्रतीकात्मकता से समृद्ध है। मंदिर की संरचना का हर महत्वपूर्ण स्थान धार्मिक और लौकिक महत्व की मूर्तियों से भरी हुई थी, जो उनकी हिंदू ब्रह्मांड संबंधी वि"वदृष्टि को दर्शाता है। चोल शासकों ने अनेक भव्य चोल मंदिरों का निर्माण किया, किन्तु इनमें से दो सबसे महत्वपूर्ण मंदिर तंजौर का बृहदीश्वर मंदिर एवं गंगकोण्डचोलपुरम् का बृहदीश्वर मंदिर है जिसे क्रमशः राजराज प्रथम एवं राजेंद्र चोल द्वारा कराया गया।

चोल मंदिर वास्तुकला कलात्मक प्रतिभा, धार्मिक भक्ति और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के संश्लेषण का प्रतिनिधित्व करती है, जो दक्षिण भारत की वास्तुकला विरासत पर एक अमिट छाप छोड़ती है।

13.3.2.1 तंजौर का बृहदीश्वर मंदिर

बृहदेश्वर मंदिर, जिसे पेरुवुदैयार कोविल के नाम से भी जाना जाता है, यह चोल राजवंश की वास्तुकला और कलात्मक प्रतिभा के प्रमाण के रूप में जाना जाता है। भारत के तमिलनाडु के तंजावुर (तंजौर) में स्थित इस मंदिर का निर्माण 11वीं शताब्दी में महान चोल राजा राजराज प्रथम द्वारा किया गया था,

जिसका निर्माण 1010 ईस्वी में पूरा हुआ था। बृहदेश्वर मंदिर द्रविड़ वास्तुकला का चमत्कार है और अपने भव्य विमान के लिए प्रसिद्ध है। मुख्य विमान लगभग 66 मीटर (216 फीट) का है, जो इसे भारत के सबसे ऊंचे मंदिर शिखरों में से एक बनाता है। विमान के शीर्ष पर एक विशाल एकश्मक गुंबद है, और इसके शीर्ष पर 80 टन का ग्रेनाइट पत्थर है जिसे 'कलश' या 'शिखर' के नाम से जाना जाता है।

मंदिर का प्रवेश द्वार एक विशाल नंदी द्वारा संरक्षित है, जो एकश्मक चट्टान से बना है, जो लगभग 16 फीट लंबा और 13 फीट ऊंचा है। यह मंदिर भगवान शिव को समर्पित है और इसके गर्भगृह में एक विशाल लिंग है। बृहदेश्वर के नाम से जाना जाने वाला यह लिंग भारत के सबसे बड़े लिंगों में से एक है। गर्भगृह तक जटिल नक्काशी से सजे स्तंभों वाले मंडप और गलियारों की एक श्रृंखला के माध्यम से पहुंचा जाता है। बृहदेश्वर मंदिर उत्कृष्ट भित्तिचित्रों और मूर्तियों से सुसज्जित है, जो रामायण और महाभारत के प्रसंगों सहित हिंदू पौराणिक कथाओं के दृश्यों को दर्शाते हैं। जटिल नक्काशी चोल कारीगरों की मूर्तिकला में निपुणता और पत्थर में जान डालने की उनकी क्षमता को दर्शाती है।

मंदिर को सटीक अक्षीय संरेखण के साथ बनाया गया है। मुख्य विमान, नंदी मंडप और गर्भगृह को इस तरह से संरेखित किया गया है कि महाशिवरात्रि के त्यौहार के दौरान, उगते सूरज की पहली किरणें गर्भगृह में देवता को रोशन करती हैं। बृहदेश्वर मंदिर की अनूठी विशेषताओं में से एक इसकी नृत्य सभा या नृत्य कक्ष है। 96 जटिल नक्काशीदार स्तंभों द्वारा समर्थित, यह हॉल वह स्थान है जहां राजा, राजराजा प्रथम, ने चोल दरबार के नर्तक, तिलैयामबल के प्रसिद्ध नृत्य प्रदर्शन को देखा था। इसके सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व को मान्यता देते हुए, बृहदेश्वर मंदिर को 1987 में यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल के रूप में नामित किया गया था।

13.3.2.2 गंगकोण्डचोलपुरम् का बृहदी"वर मंदिर

गंगाईकोंडचोलपुरम् मंदिर, जो भगवान शिव को समर्पित है और आमतौर पर गंगईकोंडचोलपुरम् के बृह्मदे"वर मंदिर के रूप में जाना जाता है, भारत के तमिलनाडु में कुंभकोणम् के पास गंगईकोंडचोलपुरम् में स्थित एक महत्वपूर्ण चोल राजवंश की उत्कृष्ट कृति है। राजराज चोल के पुत्र और उत्तराधिकारी राजेंद्र चोल प्रथम द्वारा बनवाया गया यह मंदिर चोल वास्तुकला और कलात्मक विरासत का प्रतिबिंब है। इस मंदिर का निर्माण तंजावुर में अपने पिता के

बृह्मदे''वर मंदिर की सफलता का अनुकरण करने के लिए राजेंद्र चोल की भव्य दृष्टि का प्रतीक है।

तंजावुर के बृहदीश्वर मंदिर के समान, गंगाईकोंडचोलपुरम् मंदिर द्रविड़ वास्तुकला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। हालाँकि यह अपने पूर्ववर्ती के साथ समानताएँ साझा करता है, यह अनूठी विशेषताओं को भी प्रदर्शित करता है जो इसे अलग करती हैं, जो चोल वास्तुकला शैली के विकास को प्रदर्शित करती हैं। गंगाईकोंडचोलापुरम मंदिर का मुख्य विमान एक भव्य संरचना है, हालांकि तंजावुर की तुलना में थोड़ा छोटा है। विमान पर जटिल नक्काशी और मूर्तियाँ हैं, जो चोल कारीगरों की कलात्मक कौशल का प्रदर्शन करती हैं। गर्भगृह में एक लिंग है, जो भगवान शिव का प्रतीक है। मंदिर के प्रवेश द्वार नंदी की मूर्ति बनाई गयी है तथा जिसके लिए एक अलग मंडप अथवा नंदी मंडप में रखा गया है। नंदी मंडप विस्तृत नक्काशी से सुसज्जित है और भगवान शिव के प्रति चोल भक्ति के प्रमाण के रूप में खड़ा है।

मंदिर परिसर में विभिन्न स्तंभों वाले हॉल और विशाल प्रांगण शामिल हैं, जिनमें से प्रत्येक सुंदर नक्काशीदार स्तंभों और मूर्तियों से सुसज्जित है। ये जटिल नक्काशी हिंदू पौराणिक कथाओं, चोल शाही दरबार और उस समय के सांस्कृतिक रूपांकनों के दृश्यों को दर्शाती है। पत्थर की नक्काशी के अलावा, गंगाईकोंडाचोलपुरम् मंदिर अपने कांस्य चिह्नों और कलाकृति के लिए भी जाना जाता है। देवताओं, विशेष रूप से विभिन्न रूपों में भगवान शिव की कांस्य प्रतिमाएं, धातु शिल्प कौशल में चोलों की विशेषज्ञता को प्रदर्शित करती हैं। तंजौर के चोल बृह्मदे''वर मंदिर की तरह, गंगाईकोंडचोलपुरम मंदिर को सटीक अक्षीय संरेखण के साथ निर्मित किया गया है। मुख्य विमान, नंदी मंडप और गर्भगृह को इस तरह से व्यवस्थित किया गया है जो मंदिर की संरचना के दृश्य और आध्यात्मिक सामंजस्य पर जोर देता है।

बोध प्रश्न

5 .चोल कालीन मंदिर वास्तु–कला की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करते हुए तंजौर का बृहदी''वर मंदिर के संदर्भ मे व्याख्या करें ।

.....

.....

.....

.....

13.4 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– उपभाग देखें 13.2.1

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– उपभाग देखें 13.2.2 एवं 13.2.3

बोध प्रश्न 3.

उत्तर– उपभाग देखें 13.2.4

बोध प्रश्न 4.

उत्तर– उपभाग देखें 13.3.1

बोध प्रश्न 5.

उत्तर– उपभाग देखें 13.3.2 एवं 13.3.2.1

13.5 सारांश

दक्षिणी भारत में 9वीं से 13वीं शताब्दी के मध्य चोल शासको ने अपनी प्रशासनिक प्रतिभा, कलात्मक संरक्षण और भव्य स्थापत्यों द्वारा एक अद्वितीय विरासत की आधारशिला रखी। विकेंद्रीकृत शासन और स्वायत्त ग्राम परिषदों में उनका स्पष्ट प्रशासनिक कौशल दिखाई देता है, चोल शासको द्वारा स्वशासन मे किए गए प्रयोगों ने एक मानक स्थापित किया। कला के प्रबल संरक्षक के रूप में, चोलों ने उत्कृष्ट प्रस्तर मूर्तियों और कांस्य मूर्तियों का निर्माण करके एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण की शुरुआत की, जिसमें सौंदर्यशास्त्र के साथ आध्यात्मिकता का सहज मिश्रण था। बृहदी''वर मंदिर और गंगाईकोंडचोलपुरम् के मंदिर, द्रविड़ वास्तुकला के कालातीत चमत्कारों के रूप में आज भी खड़े हैं, जिनमें विशाल विमान, जटिल नक्काशी और सटीक ब्रह्मांडीय संरेखण शामिल हैं। चोलों की प्रशासनिक सरलता, कलात्मक नवीनता और वास्तुशिल्प समृद्धि के सामंजस्यपूर्ण एकीकरण ने न केवल दक्षिण भारत में एक स्वर्ण युग को परिभाषित किया, बल्कि इस क्षेत्र की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत को समूचे वि''व में एक पहचान प्रदान की है।

13.6 शब्दावली

- विकेंद्रीकृत –केन्द्र से पृथक् सत्ता का अन्य केन्द्रों में निहित

- कराधान–कर प्रणाली
- उडनकुट्टम्–राजा को सलाह देने वाला मुख्य अधिकारी
- तिरुमेयकप्पार –राजा का अंगरक्षक
- विमान –चोल मंदिर शिखर

13.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
5. शास्त्री, के. ए. नीलकन्ठ, (1975), द चोलास, मद्रास यूनिवर्सिटी प्रेस, मद्रास ।
6. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

इकाई–14 दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया संबंध

इकाई की रुपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1. उद्देश्य

14.2 दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया संबंध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

14.3 दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के संबंध

14.3 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.4 सारांश

14.5 शब्दावली

14.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

14.0 प्रस्तावना

दक्षिण भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के बीच का ऐतिहासिक संबंध दो सहस्राब्दियों से अधिक समय से चली आ रही साझा सांस्कृतिक, आर्थिक और समुद्री विरासत में गहराई से समाहित हैं। भारतीय उपमहाद्वीप और दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के बीच एक गहरे और स्थायी सम्बन्धों का आधार उनके मध्य के ऐतिहासिक संबंध, व्यापार, प्रवासन और सांस्कृतिक आदान–प्रदान के एक जटिल जाल का परिणाम है। प्राचीन काल से ही हिंद महासागर के समुद्री मार्ग न केवल वस्तुओं के आयात निर्यात तक सीमित थे अपितु, विचारों और दर्शन के आदान–प्रदान के लिए माध्यम के रूप में कार्य करते रहें हैं, जो दक्षिण भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के बीच संबंधों की समृद्ध श्रृंखला में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान करते हैं।

दक्षिण–पूर्व एशिया से तात्पर्य प्राचीन सुवर्ण द्वीप और सुवर्णभूमि से है। सुवर्णद्वीप और सुवर्ण भूमि से तात्पर्य बर्मा, स्याम, तोकिन, अनाम, कंबोडिया, मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो और तिमोर क्षेत्र से है। भौगोलिक रूप दक्षिण–पूर्व एशिया के ये देश भारतीय उपमहाद्वीप के पूर्व में एवं एशियाई मानचित्र में दक्षिण–पूर्व में अवस्थित हैं। दक्षिण–पूर्व एशिया और दक्षिण भारत का संबंध लगभग पिछली दो सहस्राब्दियों से सतत रूप से चला आ रहा है। जिसके संपर्क के प्राचीनतम प्रमाण वर्तमान म्यांमार में 'प्यू नगर' से प्राप्त होते है। 'प्यू नगर' के उत्खनन से प्रथम ईसवी से भारत एवं दक्षिण–पूर्व एशिया देशों

के मध्य के संबंध प्रमाणित होते है। इन प्राचीन सम्बन्धों का प्रमाण इन देशों की वास्तुकला, सिक्कों, हिंदू देवी–देवताओं और बुद्ध की मूर्तियों व पुरालेखशास्त्र पर स्पष्ट रूप से देखें जा सकते हैं।

14.1.उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य दक्षिण भारत का दक्षिण पूर्व एशिया संबंध के संबंधो का अध्ययन करना है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको निम्न विषयों की जानकारी प्राप्त होगी।

1. दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया देशों के मध्य सम्बन्धों के प्रारम्भिक इतिहास एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बारे मे ।
2. दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया के मध्य कला, संस्कृति एवं धार्मिक संबंधो के संदर्भ में ।

14.2 दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया संबंध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

दक्षिण भारत के नाविकों और व्यापारियों ने साहस एवं समृद्धि की लालसा में सुदुर दक्षिण–पूर्व एशिया के देशों के साथ संबंध स्थापित किए। प्राचीन काल से ही 'कृण्वन्तोवि''वयार्यम्' के आदर्श से प्रेरित होकर अगस्त्य के अनुयायियों ने श्रम और धैर्य के साथ अपनी आर्य संस्कृति का प्रसार अनार्य भूमि में किया था। दक्षिण–पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रचारकों के रूप में अगस्त्य का महत्त्व उसी प्रकार है जैसे कि दक्षिण भारत मे आर्य संस्कृति प्रसार का श्रेय उन्हे दिया जाता है। दक्षिण भारत तथा दक्षिण–पूर्व एशिया में प्रचलित देववाद में अगस्त्य की समान मान्यता थी साथ ही साथ दोनों ही कलाओं में अगस्त्य के मूर्ति–विधान को विशेष स्थान प्रदान किया गया था। भारत एवं सुदूर दक्षिण–पूर्व एशिया के मध्य सम्बन्धों के उद्देश्य और प्रभाव की दृष्टि से एकरूपता नहीं थी। जातक ग्रंथो, वृहतकथा, मिलिंदपनहों, पेरिप्लस एवं टालमी के विवरणों में व्यापारियों के साहस की कहानी मिलती है। जातक ग्रंथों के अनुसार उत्तरी भारत के कई नगरों के व्यापारियों ने सुवर्णद्वीप अथवा सुवर्णभूमि से काशी, मथुरा, चम्पा, कलिङ्ग आदि नगरों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किया था।

दीपवंश एवं महावंश मे उल्लेख मिलता है कि सोण तथा उत्तर नामक बौद्ध भिक्षुओं ने सुवर्ण भूमि में अपने धर्म का प्रचार किया था। महाजनक जातक में भी व्यापारियों के साथ एक राजकुमार का सुवर्णभूमि में जाने का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर, पुराण आदि ग्रन्थ भी सुवर्णभूमि का उल्लेख

करते हैं। रामायण में भी यवद्वीप (जावा तथा सुमात्रा) का उल्लेख मिलता है जहाँ सोने की खानें थीं। पेरीप्लस ने भी 'छैरसे' का उल्लेख किया है जिससे तात्पर्य सुवर्णद्वीप से था। अरबी लेखक अल्बेरूनी उल्लेख करता है कि भारतीय व्यापारी सुवर्ण–द्वीप जाया करते थे। ह्एनसांग तथा इत्सिंग जैसे चीनी यात्री ने भी अपने यात्रा वृतांत में सुवर्णद्वीप का उल्लेख किया है। व्यापारी अपने व्यापार के लिए जल तथा स्थल दोनों ही मार्गों का प्रयोग करते थे ताम्रलिप्ति तथा फ्लोर प्रमुख बन्दरगाह थे यहाँ से व्यापारिक जहाज बंगाल की खाड़ी को पार कर, मलाया तथा पूर्वी द्वीपों तक जाते थे। दूसरी तरफ स्थल मार्ग, बंगाल, मणिपुर तथा असम होकर जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में व्यापार–वाणिज्य सम्बन्धों ने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्पर्क का रूप ले लिया। व्यापार के क्रम में भारतीय व्यापारियों ने अपनी संस्कृति को वहाँ फैलाया एवं इन देशों में स्थायी तौर पर अपने आवास भी बना लिए। व्यापारिक सम्बन्धों के विकास के क्रम मे यहाँ ब्राह्मणो एवं क्षत्रियों ने भी सुदूर द्वीपान्तरों की यात्रा की। समय के साथ अपने प्रभाव को बढ़ाने के क्रम में संभवतः कुछ व्यापारियों एवं साहसी क्षत्रिय राजकुमारों ने यहाँ अपने राज्य स्थापित किये। साहित्यिक स्रोतों से स्पष्ट होता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी तक हिन्द–चीन में भारतीय राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। संभवतः यहाँ पर आए ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों ने अपनी संस्कृति से यहाँ के लोगों को प्रभावित किया एवं यहीं के राजवर्ग की कन्याओं से वैवाहिक संबंध स्थापित कर लिया एवं धीरे– धीरे यहाँ की स्थानीय राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। अपने प्रभाव मे बढ़ोत्तरी कर जब उन्हें उचित और अनुकूल अवसर मिलता वे अपने नेतृत्व में स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना करते थे।

सुदूर द्वीपान्तरों में हिन्दू राज्यों की स्थापना के पीछे संभवतः दो प्रक्रियाओं से हुई होगी। पहला, जहाँ की प्रजा पूर्व से ही हिन्दू धर्म के प्रभाव मे आ चुकी होती थी, एवं किसी भारतीय हिन्दू क्षत्रिय द्वारा इसका लाभ लेते हुए विजय प्राप्त करके सशक्त हिन्दू राज्य की स्थापना की जाती थी। यद्यपि यह प्रक्रिया काफी लंबी एवं जटिल थी, क्योकि हिन्दू संस्कृति में आस्था रखने वाले सभी का सहयोग मिलना काफी दुष्कर था। दूसरी प्रक्रिया यहाँ की परिस्थिति के अनुसार अनुकूल एवं अपेक्षाकृत सरल थी। इस अन्तर्गत किसी विद्यमान राज्य के राजा को भारतीय संस्कृति से दीक्षित किया जाता था, जिसके पश्चात वह राज्य स्वतः ही हिन्दू राज्य में परिणत हो जाता था। इसी प्रक्रिया में वैवाहिक सम्बन्धों का बड़ा महत्व था। क्योकि, यह मानना कठिन है कि सीधे सैनिक

अभियान द्वारा सुदूर अभारतीय क्षेत्रों में हिन्दू राष्ट्रों की स्थापना हुई हो।

भारतीय ऐतिहासिक साक्ष्यों से ऐसा कोई भी संकेत नहीं मिलता कि जिसके आधार पर यह माना जाए की भारतीय नृपों के द्वारा द्वीपान्तर में भारतीय राजनीतिक उपनिवेशों की स्थापना का कोई सुनियोजित प्रयास किया गया। हिन्दचीन और हिन्देशिया के व्यापारियों के साथ प्रायः ब्राह्मण पुरोहित और निर्वासित राजकुमार भी द्वीपान्तर भारत की यात्रा किया करते थे। ब्राह्मण पुरोहितों ने हिन्दचीन पर बौद्धों की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त प्रभाव यहाँ के भू–खण्डों पर स्थापित किया। इस प्रकार, यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि दक्षिण–पूर्व एशिया से भारतीय राजनीति का जो आरम्भिक प्रभाव बढ़ा उसके पीछे सांस्कृतिक कारण अधिक थे साथ ही जिन व्यक्तियों ने दक्षिण–पूर्व एशिया में उपनिवेश स्थापित किये गये थे उनकी सफलता उनके व्यक्तिगत प्रयास तथा वहाँ कि स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर थी।

बोध प्रश्न

1. दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया संबंध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन करें।

.....

.....

.....

.....

14.3 दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया के देशों के संबंध

दक्षिण भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के बीच ऐतिहासिक संबंध व्यापार, संस्कृति, धर्म और कूटनीति के परस्पर गतिशील आधार पर सृजित हुआ। हिंद महासागर के समुद्री मार्गों ने वस्तुओं, विचारों और लोगों के आदान–प्रदान के लिए माध्यम के रूप में काम किया। चोल राजवंश के समुद्री अभियानों, सांस्कृतिक संरक्षण और राजनयिक व्यस्तताओं ने इन संबंधों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हिंदू–बौद्ध सांस्कृतिक प्रथाओं का समन्वित मिश्रण, धार्मिक प्रभावों का प्रसार और इन सम्बन्धों से उभरे उन्नत वास्तुशिल्प इन क्षेत्रों की साझा सांस्कृतिक विरासत को परिभाषित करते हैं। सुमात्रा और जावा में श्रीविजय साम्राज्य से लेकर जावा और बाली में मजापहित साम्राज्य तक, कंबोडिया में खमेर साम्राज्य से लेकर वियतनाम में चंपा साम्राज्य तक, प्रत्येक क्षेत्र ने दक्षिण भारत के साथ सांस्कृतिक आदान–प्रदान में योगदान दिया और

लाभ उठाया। इन संबंधों का प्रमाण यहाँ के मंदिरो एवं स्थापत्य की जटिल नक्काशी, अदालत की भाषा के रूप में संस्कृत को अपनाने और भारतीय धर्मों के स्थायी प्रभाव में दिखाई देती है।

सुमात्रा द्वीप पर केन्द्रित एक समुद्री साम्राज्य श्रीविजय ने दक्षिण भारत को सुमात्रा और जावा के द्वीपों से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 7वीं से 14वीं शताब्दी तक फलते–फूलते, मलक्का जलडमरूमध्य में श्रीविजय की भू–राजनीतिक स्थिति ने इसे एक समुद्री शक्ति केंद्र बना दिया, जिससे दक्षिण भारत के साथ व्यापक व्यापार की सुविधा मिली। उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारतीय निर्यात में मसाले, कपड़ा और रत्न शामिल थे। श्रीविजय का प्रभाव जावा तक फैला, जहाँ इसका सांस्कृतिक और धार्मिक प्रभाव गहरा था। हिंदू–बौद्ध प्रथाओं को अपनाना, शिलालेखों में संस्कृत का उपयोग और बोरोबुदुर जैसे मंदिरों का निर्माण, इंडोनेशियाई द्वीपसमूह में दक्षिण भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक प्रभावों की स्थायी विरासत को प्रदर्शित करता है।

जावा में केन्द्रित मजापहित साम्राज्य 13वीं सदी के अंत में प्रमुखता से उभरा और श्रीविजय के बाद एक प्रमुख समुद्री शक्ति बन गया। दक्षिण भारत और मजापहित के बीच संबंधों को राजनयिक संबंधों, व्यापार और सांस्कृतिक आदान–प्रदान द्वारा चिह्नित किया जा सकता है। हयाम वुरुक के शासन के तहत साम्राज्य ने खुद को इंडोनेशियाई द्वीपसमूह में एक सांस्कृतिक और आर्थिक आधिपत्य के रूप में स्थापित किया। मजापहित द्वारा संस्कृत को अदालत की भाषा के रूप में अपनाना और इसमें हिंदू–बौद्ध सांस्कृतिक प्रथाओं का मिश्रण श्रीविजय द्वारा स्थापित समकालिक सांस्कृतिक पहचान की निरंतरता को चिह्नित करता है। मंदिरों और मूर्तियों सहित मजापहित के वास्तुशिल्प मे किए गए प्रयोग, जावा और बाली पर दक्षिण भारतीय सभ्यता के स्थायी प्रभाव की पुष्टि करते हैं।

खमेर साम्राज्य, जो कंबोडिया में केंद्रित था और इसकी राजधानी अंकोरवाट थी, का दक्षिण भारत के साथ महत्वपूर्ण संबंध था, खासकर 9वीं से 15वीं शताब्दी के दौरान। राजा सूर्यवर्मन् द्वितीय के शासनकाल में 12वीं शताब्दी में निर्मित अंकोरवाट मंदिर, दक्षिण भारतीय मंदिर परंपराओं से काफी प्रभावित है एवं जो एक उत्कृष्ट वास्तुशिल्प कृति के रूप में खड़ा है। वास्तुशिल्प प्रभावों से परे, खमेर साम्राज्य ने भारतीय आध्यात्मिक परंपराओं द्वारा आकार दिए गए धार्मिक समन्वयवाद को प्रदर्शित करते हुए हिंदू धर्म और बाद में बौद्ध धर्म को अपनाया। बेयोन, अंकोरवाट का एक और प्रतिष्ठित मंदिर, हिंदू और बौद्ध प्रतिमा विज्ञान के बीच परस्पर समन्वय को दर्शाता है, जो दक्षिण भारत और कंबोडिया के बीच

स्थायी सांस्कृतिक संबंधों को रेखांकित करता है।

वर्तमान वियतनाम में स्थित चंपा साम्राज्य दक्षिण भारत के साथ व्यापार और सांस्कृतिक आदान–प्रदान का एक जीवंत केंद्र बनकर उभरा। दूसरी से 15वीं शताब्दी तक फलते–फूलते चंपा के समुद्री संबंधों ने दक्षिण भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक प्रभावों के प्रवाह को सुगम बनाया। होईएन का बंदरगाह शहर इन संपर्कों के लिए एक महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में कार्य करता था, और इस क्षेत्र के पुरातात्त्विक अवशेषों से चाम लोगों द्वारा हिंदू धर्म अपनाने का पता चलता है। विशिष्ट दक्षिण भारतीय स्थापत्य शैली में निर्मित माई सन जैसे मंदिर, वियतनाम में इन सांस्कृतिक संश्लेषणों के स्थायी प्रभाव का उदाहरण हैं।

आधुनिक थाईलैंड के अनुरूप सियाम क्षेत्र, दक्षिण भारत के साथ राजनयिक और सांस्कृतिक संबंधों का लंबे समय तक गवाह बना रहा। विशेष रूप से, श्रीविजय साम्राज्य और बाद में अयुत्या साम्राज्य, ने इन संबंधों को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्याम देश की सांस्कृतिक प्रथाओं में दक्षिण भारतीय प्रभावों के गहरे निशान मिलते हैं, जिसमें नृत्य, संगीत, साहित्य और अनुष्ठान उनकी स्वदेशी परंपराओं और दक्षिण भारतीय परंपराओं का मिश्रण प्रदर्शित करते हैं। चोल राजवंश और थाई साम्राज्य के बीच राजनयिक मिशनों ने इन संबंधों को और मजबूत किया, जिससे थाईलैंड की सांस्कृतिक विविधता में योगदान हुआ।

मलाया क्षेत्र, जिसमें वर्तमान मलेशिया शामिल है, दक्षिण भारत और दक्षिण पूर्व एशिया के बीच व्यापार और सांस्कृतिक संबंधों की एक संधि जैसे था। श्रीविजय साम्राज्य ने समुद्री व्यापार के चौराहे के रूप में सेवारत बंदरगाहों के साथ, इन आदान–प्रदानों को सुविधाजनक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मलेशिया में पुरातात्त्विक अवशेष, विशेष रूप से केदाह और लैंगकावी में, दक्षिण भारतीय प्रभावों की वास्तुकला और सांस्कृतिक विरासत को प्रकट करते हैं। जटिल नक्काशी और शिलालेखों वाले मंदिर सांस्कृतिक आदान–प्रदान की समन्वित प्रकृति को प्रदर्शित करते हैं, जो मलेशिया के इतिहास और विरासत पर एक स्थायी छाप छोड़ते हैं।

बर्मा, या म्यांमार, दक्षिण भारत के साथ जीवंत समुद्री व्यापार और सांस्कृतिक आदान–प्रदान में प्राचीन काल से संलिप्त है, पगान साम्राज्य या बगान साम्राज्य ने इन संबंधों को बढ़ावा देने में एक प्रमुख भागीदार के रूप में सहयोग दिया था। दक्षिण भारत से बर्मा तक थेरवाद बौद्ध धर्म के प्रसार ने सांस्कृतिक और धार्मिक संबंधों में महत्वपूर्ण योगदान दिया। बर्मी पगोडा, स्तूप वास्तुकला और मठवासी

परंपराओं में दक्षिण भारतीय प्रभाव के निशान मिलते हैं। पगान साम्राज्य द्वारा जटिल नक्काशी और भित्तिचित्रों वाले मंदिरों के निर्माण सहित भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक प्रथाओं को अपनाना, इन ऐतिहासिक संबंधों की गहराई को दर्शाता है।

बोध प्रश्न

2. दक्षिण भारत एवं दक्षिण पूर्व एशिया देशों के मध्य के सांस्कृतिक सम्बन्धों का वर्णन करें ।

.....

.....

.....

.....

14.3 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1.

उत्तर– उपभाग देखें 14.1 एवं 14.2

बोध प्रश्न 2.

उत्तर– उपभाग देखें 14.3

14.4 सारांश

दक्षिण भारत के साथ संबंधो के परिणामस्वरूप दक्षिण पूर्व एशिया एक जीवंत कैनवास बन गया जहां दक्षिण भारत की कलात्मक, आध्यात्मिक और सामाजिक–सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को प्रतिध्वनि और अनुकूलन मिला। राजनयिक संबंधों, व्यापार मार्गों और साझा धार्मिक प्रथाओं ने एक ऐसे रिश्ते का आधार बनाया जो भौगोलिक सीमाओं से परे था, जिसने दोनों क्षेत्रों की पहचान और विरासत पर एक अमिट छाप छोड़ी। जैसे ही हम इस ऐतिहासिक आख्यान पर विचार करते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण भारत–दक्षिण पूर्व एशिया संबंध केवल इतिहास का एक अध्याय नहीं है, बल्कि सभ्यताओं के अंतर्संबंध का एक जीवंत प्रमाण है। इन ऐतिहासिक संबंधों का स्थायी प्रभाव साझा अनुष्ठानों, वास्तुशिल्प चमत्कारों और सांस्कृतिक प्रथाओं में महसूस किया जा सकता है जो दोनों क्षेत्रों में कायम हैं, जो समय और स्थान से परे एक संबंध की समृद्धि और लचीलेपन को रेखांकित करते हैं। हमारी वैश्वीकृत दुनिया में, इन ऐतिहासिक

संबंधों को समझना और सराहना करना, दक्षिण भारत और दक्षिण पूर्व एशिया को अपना घर कहने वाली विविध संस्कृतियों के बीच साझा विरासत और पारस्परिक सम्मान की भावना को बढ़ावा देने में योगदान देता है।

14.5 शब्दावली

- सुवर्णद्वीप–दक्षिण पूर्व एशियाई द्वीपों के लिए प्रयुक्त
- मजापहित साम्राज्य –इंडोनेशिया में 1293–1500 ई० के मध्य शासन किया।
- खमेर साम्राज्य –प्राचीन उत्तरी कंबोडिया का एक हिंदू–बौद्ध साम्राज्य था।
- जलडमरूमध्य – दो बड़े जलीय भागों के मध्य में जलसंधि

14.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कराशिमा, नोबोरु (संपादित) 2017. ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः इसूज एण्ड इंटरप्रिटेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
2. दुबे, एच. एन. 2019. दक्षिण भारत का बृहद इतिहास, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
3. महालिंगम, टी. वी. 1955. साउथ इंडियन पॉलिटी, मद्रास विश्वविद्यालयः मद्रास ।
4. शास्त्री, के. ए. नीलकंठ 1958. हिस्ट्री ऑफ साउथ इंडियाः फ्रॉम प्रीहिस्टोरिक टाइम्स द फॉल ऑफ़ विजयनगर एंपायर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
5. श्रीवास्तव, बलराम 2004. दक्षिण भारत, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013

"अपने भाइयों को मै सचेत करना चाहता हूँ कि मोम न बनें और आसानी से पिघल न जायें। छोटी-छोटी सी बातों के लिए ही हम अपनी भाषा को या संस्कृति को न बदलें।"

राजर्षि पुरूषोत्तमदास टंडन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013
www.uprtou.ac.in
टोल फ्री नम्बर- 1800-120-111-333